सहजानंद शास्त्रमाला

सुख कहां?

प्रथम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'सुख कहां?' प्रथम भाग** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु **श्री संजयजी शाह, सीएटल, अमेरिका** के द्वारा रु. 1000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री सुरेशजी पांड्या, गोयलनगर, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Contents

प्रकाशकीय....2

आत्मकीर्तन....3

आत्म रमण....3

श्लोक 1-55....5

श्लोक 2-22....8

श्लोक 1-49....11

श्लोक 1-24....15

श्लोक 1-41....19

श्लोक 1-3....22

श्लोक 3....27

श्लोक 5-1....34

श्लोक 4-34....39

श्लोक 4-1....50

सुख कहां?

(१)

'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन

[दिनाङ्क २५-११-१९५२]

श्लोक 1-55

निजचेष्टाफलं ह्यन्ये दृष्टि: संसार उच्यते ।
विज्ञाय तत्त्वतस्तत्त्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।१-५५।।

अपनी चेष्टा का फल दूसरे में होता है या दूसरे की चेष्टा का फल अपने में होता है वहां दृष्टि तो संसार है । जब अपनी चेष्टा का फल अपने में मानोगे, जैसे मैंने क्रोध किया तो मैं ही भस्म हो जाऊंगा तब सब खराबी दूर होने लगेंगी । अपनी चेष्टा का फल अपने में मानना—यह है सम्यग्ज्ञान ।

मैं तो अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख वाला आत्मा हूँ, मैं फिर दीन होकर परपदार्थों में सुख की लालसा करता हुआ घूमूं ? हाय ! देखो तो अचम्भा कि स्वयं स्वयं के लिये महान है, स्वयं सुखस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है, परन्तु कहाँ-कहाँ मोही प्राणी अपने में ही होने वाले ज्ञान व सुख को भूलकर पर पदार्थों की आशा के जाल पुर रहा है । अपने ही हाथ अपने को ही शस्त्र मार अपना ही विनाश करते हुए भी जरा भी हिचकिचाहट तक नहीं करता । जो परिणति पाई जो सम्पत्ति देखी उस ही में विभोर हो जाता है । गई सो गई, अब भी अपनी महत्ता जाने, स्वतन्त्रता माने तब भलाई ही भलाई है । भैया ! एक पुरुष व्यसनी था । उसकी स्त्री ने उसका व्यसन छुड़ाने के लिये एक पत्थर की मूर्ति दी और कहा कि प्रतिदिन इसकी पूजा करके इसके सामने उस दिन के लिये पाप न करने की प्रतिज्ञा किया करो । वह पूजा करने लगा, चावल चढ़ाने लगा । एक दिन आया एक चूहा चावल खा गया । इसने सोचा इस मूर्ति से तो चूहा ही बड़ा है । बस, चूहे की पूजा करनी आरम्भ कर दी । एक दिन बिल्ली आई, चूहे पर झपटी । सोचा इससे तो बिल्ली ही बड़ी है । इस प्रकार फिर बिल्ली पुजने लगी कभी बिल्ली पर झपटा कुत्ता तो फिर कुत्ता पूजा जाने लगा । एक स्त्री ने रसोई बनाते समय कुत्ते को लकड़ी मारी, बस स्त्री को बड़ा समझ स्त्री की पूजा होने लगी । एक दिन दाल में नमक कम होने के कारण उसने स्त्री को दो तमाचे लगा दिये, वह रोने लगी । अब तो इसने सोचा कि बस मैं ही बड़ा हूँ । उस दिन से अपनी ही पूजा करने लगा । वास्तव में देखा जाये तो महान् हम ही हैं । मैं सिद्ध समान हूँ, फिर दीन होकर क्यों इस प्रकार घूमूँ? अपने चतुष्टय को देखो । 'पर' में मैं क्या कर सकता हूं? मैं अपने ही स्वरूप से हूँ दूसरे के स्वरूप से नहीं अपने द्रव्य से हूँ दूसरे द्रव्य से नहीं, अपने क्षेत्र से हूँ दूसरे क्षेत्र से नहीं, अपने परिणमन से हूँ दूसरे के परिणमन से नहीं, अपने भाव से हूँ दूसरे के भाव से नहीं, फिर अपना जगत में कुछ भी समझना दुःख पाते रहने के औटपाये नहीं तो क्या हैं? हम कितने ही

तर्कवादी बन जायें पर सुखी शान्त होने के लिये तो इस निज वस्तुत्व को पहचानना ही होगा । एक ब्राह्मण था । वह एक गुरु के पास पहुंचा । महाराज कुछ उपदेश दो । गुरु ने कहा—'एको ब्रह्मा, द्वितीयं नास्ति' । ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ । उसने विशेष जानने की इच्छा प्रगट की तब गुरु महाराज ने एक दूसरे गुरु के पास जाने को कह दिया । दूसरे गुरु उसको धर्म का रहस्य समझाने लगे । इसके एवज में उसको गाय का गोबर इकट्ठा करके उपले पाथने पड़ते थे । बारह वर्ष तक ऐसा ही किया । अन्त में गुरुजी ने बतलाया कि सब धर्मों का रहस्य अन्त में एक यही है 'एको ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' । ब्राह्मण बहुत पछताया । उसने मन में कहा यह तो मैंने पहले ही जान लिया था, व्यर्थ ही १२ वर्ष गोबर और उठाया । सौ भैया ! इस प्रकार हमने विकल्प तो नाना किये, परन्तु तत्त्व तो एक आत्मा में ही निकलेगा । विशेष जानने की खास आवश्यकता नहीं, एक आत्मतत्त्व को जानो । इतना जानने से ही मुक्ति हो जाती है । जैसे शिवभूति मुनि ने तो केवल 'तुषमाष भिन्नं' इतना ही जाना था ।

मैं ज्ञानमय हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वभाव है परन्तु सम्बन्ध मात्र रम्य जो ये इन्द्रियों के विषय हैं इनमें मैं अनन्तकाल से ठगाया गया । धर्म, अर्थ, काम तीन वर्ग हैं, इनका बराबर सेवन करो यही है गृहस्थ का कर्तव्य । जिन्होंने इस नियम का पालन नहीं किया वह दुःखी हुए । जिन गृहस्थों ने धर्म ही धर्म किया और कर्ज लेकर खाया धनोपार्जन के अभाव के कारण वे दुःखी हुए । जिन्होंने धन ही धन कमाया वह भी सुखी नहीं हुए । जिन्होंने विषय ही विषय सेये, परिजनों की परिचर्या ही की वह भी सुखी नहीं हुए । अगर हम खाये ही खाये चले जायें तो खाने से भी अरुचि पैदा हो जाती है । जिस चीज को हम खाते हैं (जो कि मुंह में) अगर उसे देख लें तो कै हो जाये । जब लार के साथ वस्तु का सम्बन्ध होता है तो वह इतनी गन्दी हो जाती है कि उसको देखना भी पसन्द नहीं करता । इत्र वगैरह सुगन्धित पदार्थ भी सम्बन्ध मात्र रम्य है । थोड़ी देर के बाद उन्हें भी हटाने की इच्छा होती है । काफी देर तक सिनेमा देखने के बाद आंखें बन्द करने की तबीयत चाहने ही लगती है । मतलब यह है कि पर-पद में आराम मिला ही नहीं । ज्ञानी जीव के विकल्प होता है तो यह धुन रहती है कि अब तो मैं यही चाहता हूँ कि इन सब विकल्पों से छूटकर अपने आप, अपने द्वारा अपने में सुखी होऊं।

मैं तो सिद्ध समान हूँ । सिद्ध के समान ही मेरा रूप है । जिसने भगवान और अपने को एक जाति का मान लिया वह अपने ज्ञान का अवलम्बन करके भगवान हो सकता है । सब ही सिद्ध एक प्रकार के हैं उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है । इसलिये तो यह प्रसिद्धि हो गई कि हर आत्मा भगवान का ही अंश है और मृत्यु होने पर उस एक ही ब्रह्म में जाकर मिल जाता है । सुखी वही होता है जो अपने उपयोग से भ्रम को हटा देता है और अपने एकत्वमय स्वरूप को ज्ञानगत कर लेता है । एक मनुष्य बम्बई जा रहा था । एक स्त्री ने कहा—मेरे बच्चे के लिये एक बहुत बढ़िया खिलौना लाना दूसरी ने कहा कि बहुत बढ़िया जापानी बबुआ लाना और एक बूढ़ी अम्मा ने कहा—'ये दो पैसे लो और मेरे बच्चे के लिये एक मिट्टी का सुन्दर सा खिलौना लेते आना । तब वह आदमी कहता है—बूढ़ी अम्मा ! बच्चा तो तेरा ही खेलेगा ।' इस प्रकार भैया !

जो स्वाध्याय का मूल्य चुका देते हैं अर्थात् स्वाध्याय करके राग, द्वेष, ममता रहित होकर समता को प्राप्त कर लेते हैं वह ही मोक्ष मार्ग में खेलते हैं । यदि आत्मीय आनन्द लेना है तो सब कुछ भूलना पड़ेगा । प्रेम होता है तो विश्व के जीवों से प्रेम करो—इतना व्यापक प्रेम करो कि प्रेम ही न रहे ।

लालच ही एक ऐसी बुरी बला है जो उदारता, पवित्रता आदि सभी गुणरत्नों की होली कर देती है । लालच अर्थात् दीन होना । इसका अर्थ तो देखो—कितनी दीनता कितनी परतन्त्रता इस भाव में भरी हुई है । भाई अपने को संभालो, बकरियों में भूले हुए सिंह के बच्चे की तरह विपदावों के कोड़े मत खावो । अन्तर्दृष्टि करें तो तत्त्व मिले, बाह्यदृष्टि होने पर तो आप यही पावेंगे । सभी को परपदार्थों की तृष्णा लगी हुई है । परपदार्थों के होने से ही अपने को बड़ा अनुभव करते हैं और यथार्थज्ञान को तो बिना ही काम लिये रिटायर (Retire) कर देते हैं । एक सेठजी थे । नये मकान का उद्घाटन किया । जो कोई आता उससे ही कहते कि भाई जो कमी मकान में हो बता दो ताकि मैं दूर करा दूं । सबने मकान की प्रशंसा ही की परन्तु एक साधु ने कहा सेठजी केवल दो कमियाँ है यदि आप दूर कर सकें तो । 'एक तो यह मकान सदा नहीं रहेगा और दूसरा इसका बनाने वाला भी सदा नहीं रहेगा ।' सुनकर सेठजी की आँखें खुली । संसार के सब पदार्थों की यही तो दशा है, फिर भी हम उन्हीं में लीन और दीन हो रहे हैं । किसी भी समय अपने को अनादि अनन्त, ज्ञायकस्वभाव, एकाकी, ज्योतिर्मय जानने का प्रयत्न ही नहीं किया ।

सब यही चाहते हैं कि लोगों में मेरी इज्जत बनी रहे । किसी को एकान्त में गाली दे दो, बुरा नहीं मानेगा । मगर चार आदमियों के सामने वह ऐसा सहन नहीं कर सकेगा । एक राजदरबार में कविसम्मेलन हो रहा था । सबने बहुत सुन्दर-सुन्दर कविता सुनाई । एक कवि ने कोरा कागज लेकर कहा महाराज ! इस कागज पर एक बहुत ही सुन्दर कविता लिखी हुई है परन्तु दिखेगी उसे ही जो एक बाप से पैदा हुआ हो । बारी-बारी से सबको वह कागज दिखाया गया और सबने ही कहा कि वाह बहुत ही सुन्दर कविता है । राजा ने भी ऐसा ही कहा और उसको इनाम देकर बिदा किया । (हंसी) सो भैया ! बात यह है कि वहाँ कोई भी सहन नहीं कर सकता था कि अन्य लोग मुझे ऐसा समझें कि मैं एक बाप का नहीं हूँ । इज्जत बनी रहे, इज्जत में धब्बा नहीं लगे यही सब चाहते हैं और हम भी यही कहते हैं कि इज्जत के लिये मरें, परन्तु पर्याय की इज्जत के लिये नहीं, अपनी सच्ची इज्जत के लिये । अपने से उत्पन्न होने वाले मोह अन्धकार को नष्ट करके अपने को देखो और सुखी हो लो । देहाती कहावत है कि एक भिखारिन को एक लोटा मिल गया । वह बार-बार शौच को जाने लगी ताकि सब देख लें कि इसके पास लोटा है । यही हालत हमारी है, जरा सी सम्पत्ति पाते हैं फूले नहीं समाते, बहुत-बहुत आडम्बर रचे हैं उसको दिखाने के लिये । ना कुछ चीज में व्यर्थ लालसा करके अपने को बरबाद कर रहे हैं । चक्री के वैभव के सामने यह प्राप्त हुई लाख करोड़ की सम्पदा क्या कुछ चीज है? खैर । जिसे जो करना हो करो, परन्तु एक बात का उत्तर दो 'फिर क्या होगा' करोड़ की सम्पत्ति हो गई 'फिर क्या होगा?' इस तरह अन्त में तो भाई मृत्यु ही होगी ! आत्मा की भलाई

तो इसी में है 'पर' पदार्थ से ममत्व हटाना और अपने को स्वतन्त्र अनुभव करके अपना भविष्य अच्छा बनाना । ज्ञान सागर में प्रवेश करने पर फिर रागादि पीड़ा नहीं देते। ।

मान कषाय के उदय से हम हठ करते हैं और स्वयं बरबाद हो जाते हैं । कोई सेर को सवासेर भी मिल जाता है । फिर क्या होता है? एक स्त्री थी भैया ! उसने सोचा कि पति को छकाया जाये । वह पेट के दर्द का बहाना लेकर पड़ गई । पति ने इलाज किया सब व्यर्थ । तब पत्नी से पूछा 'अब इसका क्या उपाय होना चाहिये?' उसने उत्तर दिया कि यदि हमारी सास सिर मुंडाकर, काला मुंह करके सवेरे मेरे सामने आये तो मेरा दर्द ठीक हो सकता है । पति था चतुर । उसने स्त्री के मायके में लिख दिया कि लड़की बहुत बीमार है, अगर मुंह देखना चाहो तो बहुत सवेरे सिर मुंडाकर काला मुंह करके फौरन आवो । तब ही अच्छी हो सकती है ऐसा ही बताया है । मां का प्रेम ! उसी प्रकार से आई । काले मुंह में पहिचान तो ठीक हो ही नहीं पाती । देखकर स्त्री ने पति से कहां ''देखे बीरबानी के चाले, सिर मुंडे मौह काले।'' तब पति बोला ''देखी मर्दों की फेरी, अम्मा तेरी या मेरी'' (हंसी) सौ भैया ! हठ करने का नतीजा बहुत बुरा होता हूँ । मान करना दुःख का बीज है । इस मान ही के कारण सास बहू, भाई-भाई में नित्य प्रति झगड़े होते रहते हैं । इसके सद्भाव में आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं होने पाता । अत: मान को तिलाञ्जलि दे देना चाहिये, इसका एक उपाय यह भी है कि छोटों की सेवा करें । जिन वस्तुओं से मान का उदय होता हो उनको दूर करें । लोग चाहे कुछ कहें उनके कहने का क्या बनता है? ज्ञानी तो अपने हित का मार्ग साफ रखते । एक गुरु चेले थे एक दिन नगर का राजा दर्शनों को आया । गुरु को चिन्ता हुई कि अब तो तमाम प्रजा ही हमारे दर्शनों को आया करेगी । इस प्रकार हमारे धर्म ध्यान में बाधा आयेगी और किसी समय मान कषाय भी पैदा हो सकता है । अत: वह राजा के सामने ही भोजन का विषय लेकर लड़ने झगड़ने लगे । राजा ने सोचा कि ये कैसे साधु हैं, जो भोजन पर लड़ते हैं । इस तरह से उन साधु महात्मा ने अपने में मान पैदा होने का जो कारण हो सकता था वह वहीं समाप्त कर दिया । रागादि तभी तक दु:ख देते हैं जब तक आत्मा ज्ञान सागर में गोते नहीं लगाता । हम स्त्री, पुत्र रिश्तेदारी में गर्क रहे । एक बार भी नातेदारी (अर्थात् 'ना' माने नहीं 'ते' माने तुम्हारा अर्थात् तुम्हारा कोई नहीं है) में गर्क नहीं हुये तभी तो दु:खी हैं । भैया ! अब तो परपदार्थों से ममत्व हटाकर राग, द्वेष, मोह, मान आदि को हटाकर अपने में अपने द्वारा स्वयं सुखी होओ। ।

(२)

''श्री सहजानंद गीता'' प्रवचन

[दिनांक २७-११-१९५२]

श्लोक 2-22

तत्त्वज्ञो जायते मूको लुब्धस्त्यक्तमिदंछलाम् ।
शांतिस्तु तत्त्वतस्तस्मिन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।२-२२।।

संसार के लोग बड़े ही होशियार हैं । यह समझकर कि ''जो तत्त्व का ज्ञानी हो जाता है वह बोलता नहीं है, मूक-गूंगा हो जाता है, न चेष्टा करता है, इसलिए उस तत्त्व को जानने से क्या लाभ है? जिसके जानने से मूक-गूंगा होना पड़े'' वह विषयों के ही लोभी हो रहे हैं और तत्त्व को जानने का प्रयत्न ही नहीं करते । परन्तु देखा जाये तो शांति तो तत्त्व में ही है । तत्त्व अर्थात् ऐसा ज्ञान होना जिसमें रागद्वेष का लेश भी न हो । जो भी दुःख होता है राग, द्वेष, मोह से होता है । किसी वस्तु के नष्ट होने पर ही दुःख नहीं होता, परन्तु नष्ट होने के बाद भी यह विचार आ जावे कि नष्ट हुई वस्तु मेरी थी तो तत्काल दुःखी हो जाता है । अत: सिद्ध यह हुआ कि दुःख विकल्प में है, परपदार्थ में नहीं ।

इच्छा की कोई सीमा नहीं है । जिसके पास लाख की सम्पत्ति हो जाती है वह करोड़ की इच्छा करता है । करोड़ वाला अरब की और इसी तरह.... । जिस समय बच्चा पढ़ना आरंभ करता है तो इच्छा होती है कि बी. ए. पास करूंगा, परन्तु जब एम. ए. में पहुंच जाता है तो सोचने लगता है कि कौनसी लाइन पकडूँ । फिर नेता बनने की, फिर नायक बनने की, फिर मिनिस्टर बनने की इच्छा हो जाती है । विपत्ति का कारण इच्छा है । फिर भी हम उसी के दास बने हुए हैं । बड़े आश्चर्य की बात है । तृष्णा के बढ़ाव में दुःख है और तृष्णा के घटाव में सुख है । जिन्होंने मन मार लिया, जिन्होंने इच्छाओं पर काबू पा लिया वही संत हैं, वही आदर्श हैं, वही परमात्मा है और वही ध्यान के योग्य हैं ।

आजकल कोई अपने को सुखी नहीं बतलाता । सदा यही कहता रहता है अभी तो ऐसा नहीं हुआ, अभी तो यह बाकी है इत्यादि । वह ऐसा नहीं सोचता कि यदि अकस्मात् लखपति न होकर साधारण फेरी वाला हो जाता तो उससे तो अब अच्छा ही है । किसी के पास लाख रुपये का धन हो और हजार का नुकसान हो जाये तो वह ९९००) का सुख नहीं भोगता अपितु हजार के नुकसान को ही रोता रहता है । एक बुढ़िया थी भैया ! उसके ७ लड़के थे । एक लड़का मर गया । छ: के होते भी संतोष नहीं । बस रात दिन रोना पीटना । बहुत समझाया बाकी लड़कों ने, परन्तु व्यर्थ । शनै: शनै: सभी लड़के मर गये और वह दु:खी ही दु:खी बनी रही । जैसे उसे जो लड़के बचे थे उन पर संतोष न था और जो मरता गया उसका ध्यान करते-करते ही दुःखी बनी रही, उसी प्रकार हम जो हमारे पास है उसमें संतोष नहीं करते, परन्तु हमारा यह चला गया यह नष्ट हो गया ऐसा सोच-सोचकर ही दु:खी होते रहते हैं । अत: मनुष्य को चाहिये एक अपने से कार्य रखे अपनी निर्मलता से प्रयोजन रखे । बाहरी संयोग जितने मिलेंगे उतना ही फंसेगा । भोगभूमियां जीवों के सम्बन्ध कम होते हैं । एक स्वयं होता है एक उसकी स्त्री । बच्चा पैदा होने पर दोनों मर जाते हैं । अत: बच्चे के प्रति मोह बढ़ाकर जो दु:ख कर्म भूमि के मनुष्यों को उठाना पड़ता है वह उन्हें नहीं होता । इन सब बातों से सिद्ध हुआ कि इच्छा ही दुःख है । इच्छा को मारने का एकमात्र उपाय यही है कि आत्मा को अनादि निधन, चैतन्य स्वभाव वाला चिन्तवन करें । जो पर्याय-बुद्धि हैं, जिन्होंने पर्याय को ही आत्मा समझ लिया है उन ही को इच्छा बढ़ा करती है । जिन्होंने आत्मदृष्टि की, पर को पर समझा उनकी इच्छायें नष्ट हो जाया करती हैं । ज्ञानी अपने को मनुष्य मात्र नहीं अनुभव करता । वह तो अपने को चैतन्यमात्र, जानने

देखने वाला, ज्ञायक स्वभावी ही समझता है । यही तत्त्व है । इच्छा के अभाव में इस तत्त्व का अनुभव होता है । प्रयत्न यही करना चाहिये कि इच्छा न हो । ऐसा प्रतीत होता है कि जो भिखारी भिक्षा माँगने आता है, वह यह उपदेश देता है कि अगर त्याग न करोगे तो हम जैसे बन जावोगे, इस पर भी जो 'चल-चल हट-हट, तुझ पर तो भगवान् भी नाराज हैं, तुझे कुछ देकर भगवान् का द्रोही क्यों बनूँ, ऐसा कहकर उसको दुत्कार देते हैं वह उदार नहीं हैं । यह अवश्य है जो भिखारी हट्टा-कट्टा हो, व्यसनी हो उसकी उपेक्षा करना ठीक हो सकता है । परन्तु लोभ के वश जो मना कर देते हैं वह ठीक नहीं करते हैं । जिनके इच्छा नहीं वह सुखी है ! 'फाँस तनकसी मन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले' । जिन्दगी का अर्थ है—निराकुल होना, फिक्र न होना, संतोष होना, आत्मस्थिरता होना । संयोग के अन्दर रहते हुए भी अपने को एक स्वतन्त्र, इकला माने । आप कहेंगे ये तो अपने घर की बात कह दी । परन्तु भैया ! यही तो पते की बात है । अगर जीवन सुधारना है, सुखी होना है तो मूर्च्छा त्यागो ।

बच्चों का खिलाना बाबा के जिम्मे होता है । वह ''बाबाजी'' ''बाबाजी'' कहता है । 'बा' यानी 'उस' 'बाजी' यानी 'पार' के । मानो वह बच्चा उपदेश देता है कि ''बाबाजी'' अब तो आप 'उस पार' के हो गये हो अर्थात् अब तो घर गृहस्थी का मोह छोड़कर आत्मचिन्तवन करो, परन्तु ''बाबाजी'' तो 'जाबाजी' (इस ओर के) बन बैठे है । बच्चों को खिलाकर वह अपने को धन्य समझते हैं । लोग भी समझते हैं कि अब तो इसके पोते पड़पोते हो गये हैं, अब तो यह स्वर्ग जायेगा । प्रथा भी ऐसी चल गई कि है कि चिता पर सोने की नसैनी रख देते हैं जिस पर चढ़कर बताया जाता है कि सीधे स्वर्ग पहुँच जाएगा । परन्तु भैया ! नसैनी तो चढ़ाने के काम भी आती है और उतरने के भी । (हँसी) उसने तो इतना मोह बसाया—लड़के का, पोते का, फिर भी आशा करता है कि सद्गति हो । यह असम्भव है ।

जो परिस्थिति इस समय अपनी है उसमें संतुष्ट रहो । जो कुछ हुआ है समझो सब कुछ है । अगर खाने के लिये चने ही हैं तो उनको ही खाकर भूख मिटा लो । जितना परिवार है, जितने मित्र हैं, जितनी सम्पत्ति है उसमें सन्तुष्ट रहो। यह मत सोचो जो यह होगा तो यह होगा । शेखचिल्ली वाली बात मत करो । ऐसा करने में तो दुःख ही दुःख है । हमारा कर्तव्य तो यह होना चाहिये कि वर्तमान में अच्छा कार्य हो, परिणाम निर्मल रहें, अपनी शुद्ध आत्मा की रुचि रखें फिर जो होगा सो ठीक होगा ऐसा करने वाले चक्री पद तीर्थंकर पद तक को प्राप्त कर लेते हैं । सम्यग्दर्शन सहित ऐसे परिणाम करने से पुण्य बंध होता है और धन संपदा, वैभव, पुत्र, मित्र आदि प्राप्त होना सब पुण्य का खेल है । एक बार सब तरफ से अपने को हटाकर ऐसा सोचो तो कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूं, चैतन्य स्वभाव वाला हूँ, परमार्थ से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । मुझ ज्ञान-मात्र आत्मा से किसी का सम्बन्ध है क्या? ऐसा सोचने पर सुख और शान्ति प्राप्त होती है । उदयसुन्दर और वज्रबाहु बहनोई साले थे । उदयसुन्दर स्त्री के साथ-साथ चल दिये । रास्ते में एक मुनिराज के दर्शन हुए । झट वैराग्य हो गया कि अरे मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, मेरा किसी से सम्बन्ध ही क्या है? किसकी स्त्री, किसका पति? बस बन गये मुनि और आत्म-कल्याण कर लिया । अग्निपरीक्षा के बाद जब सीताजी विरक्त हो गई

राम ने बहुत समझाया, क्षमा मांगी, हाथ जोड़े, कहा कि मेरा ख्याल नहीं तो लक्ष्मण का लव कुश आदि का ही ख्याल करो, परन्तु सीताजी ने एक न मानी—और चल दी एक केवल सफेद साड़ी मात्र परिग्रह रखकर कल्याण पथ की ओर—केश उपाड़े—अर्जिका हो गई—रामचन्द्र जी मूर्छित हो गये । सीता उनकी यह दशा देखकर भी रुकी नहीं । यह सब क्यों? आप कहेंगे सीता बड़ी निष्ठुर निकली, सीता ने पति की आज्ञा भंग की । नहीं भैया ! ऐसी बात नहीं है । मोह का मोह ही पति, मोह ही पुत्र, मोह ही स्त्री होती है । मोह उसमें से निकल चुका था, फिर कौन किसका पति, कौन किसकी पत्नि ? फिर सीता की आत्मा का पति सीता ही था और कोई नहीं । किसी आत्मा का किसी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है । राग का राग से सम्बन्ध है । वहाँ आज्ञा भंग का दोष नहीं लगता । आत्मा से रागद्वेष दूर हुआ फिर कुछ नहीं रह जाता । कृष्ण की सभा में जब जिक्र हुआ कि द्वारका नष्ट होने वाली है, जिसे अपना कल्याण करना हो वह कर ले तो प्रद्युम्नकुमार एकदम तैयार हो गए । पिता ने, बाबा ने बहुत समझाया कि हमारे होते हुए तुम को ऐसा नहीं करना चाहिए, परन्तु उसने यही उत्तर दिया कि आप संसार के ही खंभ बने रहो, परन्तु मैं तो चला । स्त्री के पास पहुँचे और अपने विचार प्रकट किए । स्त्री ने कहा जब वैरागी हो रहे थे तब यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? और आप वैरागी होओ या न होओ, मैं तो जंगल को चलती हूँ । ऐसा कहकर तुरन्त ही राजमहल से चल दी । सो भैया । निर्मोहता की बात ही निराली है । जब मोह समाप्त हो जाता है ऐसा हो ही जाता है । परन्तु मोही जीवों को अचरज होता है कि ऐसा कैसे हो गया? जो निर्मोही हैं उन्हें बिल्कुल अचरज नहीं होता—निर्मोहता ही सार है । धन भी, जिसे हम चाहते हैं वह भी मोह से नहीं मिलेगा । निर्मोही रहो फिर रागवश जो पुण्यबंध होगा उस पुण्य के उदय में वैभव की प्राप्ति होगी—मोह से तो न यहाँ चैन मिलता है और न परलोक में । परीक्षा तो करके देखो कि आत्मा का कोई कुछ है क्या? जब नहीं है तो मूर्च्छा का त्याग करो । यह बुद्धि करो कि मेरा कोई नहीं, मेरा कुछ नहीं, गृहस्थी के भी सब कार्य करो, व्यापार भी करो और भी काम करो, परन्तु श्रद्धा तो यह रखो कि मेरा कुछ नहीं है, सब मुझ से भिन्न है । इसी श्रद्धा के बल पर आत्मा की विजय होती है और इस ही दृढ़ संस्कार के अनन्तर हम अपने में, अपने द्वारा, अपने लिये, अपने आप स्वयं सुखी हो जाते हैं ।

(३)

'श्री सहजानंद गीता' प्रवचन

[दिनांक २८-११-१९५२]

श्लोक 1-49

अद्वैतानुभवः सिद्धिर्द्वैतबुद्धिरसिद्धता ।

सिद्धरन्श्च पन्था न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।१-४९।।

एक अद्वैत का अनुभव होना ही सिद्धि है । ज्यों-ज्यों सम्पर्क बढ़ता है आकुलता भी बढ़ती है । द्वैत की

बुद्धि ही असिद्धि है । एक अपने आप में लीन होना, अपने को एकाकी, परपदार्थ से भिन्न अनुभव करना यही कल्याण का मार्ग है । व्यवहार भी उसको ऐसा ही बनाना चाहिये । व्यवहार में सम्बन्ध इस प्रकार का रखे जिससे विकल्प उत्पन्न न हो, आकुलता न हो । कोई केवल निश्चय-निश्चय की ही रटना लगाता रहे—मैं तो शुद्ध, बुद्ध, अनादिनिधन, पूर्ण ज्ञानघन हूँ और व्यवहार में जो चाहे सो करे, अनर्गल प्रवृत्ति करे, तो वह निश्चय तत्त्व में नहीं पहुंच सकता—'स्व' का एकपन, एकाकीपन ही मंगल है, वही रक्षा करने के लिए दुर्ग है । जिस प्रकार शत्रु की सेना से रक्षा पाने के लिए किले का आश्रय लिया जाता है इसी प्रकार जब कोई आपत्ति आये तो विचार करें मैं तो अकेला हूँ, कोई मेरा नहीं है, किसी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् निज के एकत्वरूपी दुर्ग में प्रवेश करें तो अपनी आत्मा की रक्षा कर सकता है । 'स्व' की एकता ही औषधि है । इस प्रकार विचार करके अपने में, अपने लिए, अपने आप सुखी होओ ।

इच्छा नहीं रही तो सारी सिद्धि हो गई । इच्छा के सद्भाव में दु:ख ही दु:ख है । राग, द्वेष, मोह आदि होने पर भी अगर ज्ञायकरूप रहूं तो कहां विकार है? एक मनुष्य बहुत आवश्यक कार्य से कहां जा रहा हो दरवाजे की चौखट लगने से उसके चोट भी आ जाएं तो भी उपयोग में कार्य होने के कारण उसको चोट का ख्याल ही नहीं आता । जब हमारा उपयोग केवल दुनियावी बातों में ही लग जाता है तो शरीर को पीड़ा भी हो जाएं तो पता नहीं लगता । फिर यदि ज्ञान में उपयोग हो जाय तो फिर बाहर में कुछ ही क्यों न होता रहे इसका कोई बिगाड़ नहीं कर सकता । सुकुमाल मुनि को गीदड़ी खा रही है, सारा शरीर भक्षण कर लिया है, फिर भी ध्यान से विचलित नहीं होते, क्या कारण है? बात केवल यह है कि ज्ञान में ही उपयोग लगा लिया है । उन्हें शरीर में राग ही नहीं रहा, फिर पीड़ा काहे को हो । दु:ख को सहन करना बहादुरी नहीं है, पर उस जाति का परिणाम आना बहादुरी है । जिस पुत्र से मोह हट जाता है कुपूत होने के कारण या और किसी कारण, उसकी कैसी अवस्था हो जाये किसी प्रकार की भी आकुलता नहीं होती । अत: सिद्ध हुआ कि ममता, 'स्व' का एकत्व परपदार्थ से अपने को भिन्न समझना, अपने को चैतन्य मात्र जानने देखने वाला अनुभव करना यही तत्त्व है, यही औषधि है, यही दुर्ग है, यही सुधा सागर है ।

हे आत्मन् ! तू दु:खी क्यों हैं? मेरा तो इस आत्मा ही में न्याय, विधि विधान कचहरी, सिपाही, फैसला, जेलखाना सब....यहीं है ! इसके अलावा बाहर में क्या है? कोई पुरुष था । उसने अपनी मुट्ठी बन्द कर ली और कहा? मेरी मुट्ठी में सब कुछ है—हाथी, घोड़े, बगीचे, महल आदि । सबको अचरज हुआ । कहा ''दिखाओ''— मुट्ठी खोली । हाथ में स्याही की टिकिया, जिसमें जरा सा जल मिलाकर जो चाहो सो बनाया जा सकता था । इसी प्रकार हमारी आत्मा में भी सब कुछ है । हमारे पास ज्ञानोपयोग रूपी स्याही की टिकिया, श्रद्धा का जल और चरित्र की कलम हो तो सब कुछ हमारे हाथों में है । 'मैं ही सुख का पुँज हूँ' ऐसा विचार कर अपने मन में, अपने लिए, अपने द्वारा स्वयं सुखी होऊँ ।

मैं आत्मा ज्ञान का पिण्ड हूँ, अन्य से भिन्न हूं, एकाकी हूं । अपने उन्मुख हो तो सुख ही सुख है । परोन्मुख हो, दूसरे की चिन्ता करे, इन्द्रिय और मन के मार्ग में जावे तो दु:ख ही दु:ख है । ज्ञानी विचारता है

मुझे पर की परीक्षा से क्या प्रयोजन है, स्वाभाविक आनन्द तो निज की परिणति से ही होता है । एक मनुष्य एक आचार्य के पास पहुंचा और पूछा—''महाराज, मुझे बताओ धर्म क्या है?'' आचार्य ने कहा—सामने तालाब में एक मगर पड़ा है, वह तुम्हें बतायेगा धर्म क्या है ? वह मगर के पास गया और वही प्रश्न किया । मगर ने कहा, ''अभी बताता हूँ, मुझे बहुत प्यास लगी है, सामने कुएं से एक लोटा जल ला दो, फिर तुम्हें धर्म का स्वरूप बताऊंगा ।'' मनुष्य ने कहा, ''तुम बड़े मूर्ख मालूम होते हो, जो जल में डूबे हुए हो और कहते हो कि प्यासा हूँ ''। मगर हँसा और उत्तर में इस प्रकार कहा—''भाई तुम भी बड़े मूर्ख हो, धर्म तो तुम्हारे पास, तुम्हारे अन्दर ही है और फिर भी पूछते हो धर्म क्या है ?'' यही हमारी दशा है । सुख में डूबे हुए हैं अर्थात् सुख से तो भरपूर हैं, परन्तु बाह्य पदार्थों में उपयोग लगा-लगाकर दु:खी हो रहे हैं । कभी भी इस प्रकार का उपयोग नहीं रख सके कि मैं तो एक ज्ञानघन, ज्ञानस्वभावी, ज्ञाता, द्रष्टा, 'स्व' में ही प्रतिष्ठित हूँ ।

सबसे पहले आत्मा में इच्छा होती है । इच्छा हुई कि प्रयत्न होने लगता है, शरीर की वायु चलने लगती है, फिर यह ढांचा (शरीर) चलने लगता है । सबका मूल क्या हैं—इच्छा । तीर्थंकर भगवान के भी पहले इच्छा रही थी, इच्छा से कर्मबन्ध हुआ और जब कर्म उदय में आया उन्हें भी विहार करना पड़ा । भव्य जीवों का पुण्योदय भी होता है और भगवान के विहायोगति नामा कर्म का उदय भी होता है, जो उन्हें विहार करना पड़ता है । जब-जब सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् कर्मों से मुक्त हो जाते हैं, फिर स्वभाव में ही अनन्तकाल तक ठहरते हैं, टस से मस नहीं होते । सकल परमात्मा भी स्वभाव में ठहरते हैं । केवल शारीरिक परिणमन कर्मोदयानुकूल होना पड़ता है ।

जितना भी जानना है, देखना है, सूंघना है, सुनना है सब आत्मा का औपाधिक काम है । लोगों को दिखता है—इसने (शरीर ने) जाना, इसने देखा, इसने सूंघा, इसने सुना, परन्तु यह आत्मा की दृष्टि है । जैसे अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठा हुआ है, लोग समझते हैं कि वह अपनी ही आँखों से देखता हुआ चलता है, परन्तु ऐसा नहीं है, दृष्टि तो लंगड़े की ही मार्ग बता रही है। इसी तरह यह शरीर रूपी यन्त्र तो चल रहा है, परन्तु चलाने वाला तो आत्मा ही है । सब कार्य ऐसा जानना, देखना आदि अशुद्ध आत्मा ही कर रहा है । ड्राइवर तो आत्मा ही है, यह शरीर तो केवल एक ढांचा है । जिनके शरीर में लकवा मार जाता है उनके शरीर में वायु का संचार बंद हो जाता है । अत: शरीर काम नहीं करता । आत्मा का काम तो इच्छा करना उस अवस्था में भी होता ही रहता है ।

पहले पहल जब ज्ञान होता है तो मालूम होता है कि सब लोग बड़े पागल हैं, बड़े मोही हैं जो परपदार्थों में फंसे हुए हैं । जब ज्ञान और बढ़ता है तो सोचने लगता है—कौन पागल हो रहा है, कौन मोही हो रहा है? ये सब तो सामान्य चैतन्यरूप हैं । उसको सब पाषाणवत् दिखाई देता है और भीतर गहरे में पहुँचता है तो विचार आता है कि चैतन्यस्वभाव तो सबकी आत्मा में निश्चित रूप से है । अगर उस पर दृष्टि डालें उसे ही अनुभव करें तो धीरे-२ भगवान् बन सकते हैं । परन्तु धुन तो विषयों की कषायों की, आशा की लगी हुई है ।

इस प्रकार ज्ञानदृष्टि पाकर भी धन, परिवार आदि मन में बसाए हुए हैं । जो पशु होकर सीखा था वही संसार अब भी है । दुर्लभ मनुष्यभव पाकर भी सावधानी न हो यह खेद ही की बात है । एक पुरुष था । उसको किसी ने बताया—इन पत्थरों के ढेर में एक पारस पत्थर भी है, जिसको अगर लोहे से छुआ दिया जाये तो लोहा सोना बन जायें । लाखों पत्थरों में एक पारस था । वह नदी किनारे लोहे का डंडा गाड़कर बैठ गया । एक-एक पत्थर उठाये, लोहे से मारे और नदी में फेंक दे । यही क्रम चला । दस, बीस, सौ, हजार, दस हजार, उठाने, लोहे से छुआने और फेंकने का स्वभाव सा पड़ गया । उसी धुन में वह पारस पत्थर भी उसके हाथ में आया, उसे भी उसने उठाया, लोहे में मारा और नदी में फेंक दिया । सो भैया ! इसी प्रकार हम भी आहार, भय, निद्रा, मैथुन, राग, द्वेष, मोह की धुन में इतने मस्त रहते हैं कि लाखों गतियों के बाद यह अमूल्य मनुष्य भव पाया भी तो गंवाया और चल दिये । ये संयोग अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र आदि कोई भी अपने काम में नहीं आते । ऐसी श्रद्धा करे मेरा कुछ नहीं है, मैं किसी का नहीं हूँ और आत्मा में ही विहार करे तो अपने में, अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी हो सकता है ।

(४)

''दीक्षा-समारोह'' के अवसर पर

(दिनाङ्क ३० नवम्बर सन् १९५२ ई० को मध्याह्न काल मुजफ्फरनगर में 'दीक्षा समारोह' मनाया गया । सहस्रों स्त्री, पुरुषों व बच्चों के बीच हमारे पूज्य श्री ने अध्यक्ष पद से उस समय जो भाषण दिया वह नीचे प्रस्तुत किया जाता है । आपके सत्सङ्ग व भाषणों का प्रभाव जनता पर अपूर्व ही पड़ा और पचासों स्त्री, पुरुष व बच्चों ने श्री सिद्धयन्त्र को साक्षी कर पूज्यश्री से व्रत व नियम लिये । इनमें स्थानीय श्री छोटनलाल जी, श्री कालूराम जी सेठी इन्दौर वाले, श्री बादामीलाल जी, व श्री दुलीचन्द जी खंडवा वालों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । अपने क्रम से दूसरी, पहली, दूसरी व पहली प्रतिमायें ली)

भाषण

''बा० बलबीरचन्द्र जी का भाषण सुनकर दीक्षान्त समारोह का ख्याल आया । इस शब्द को पत्रों में सुना करते थे, अब भी मैं ठीक तो नहीं समझ रहा कि जो दीक्षा समारोह विद्यालय में होता है उसका अर्थ क्या है? मेरी समझ में तो यह आता है कि जिस समारोह में व्रत, नियम, प्रतिज्ञायें ली जायें वही दीक्षा समारोह कहलाता है । आपके सामने बा० मुख्तारसिंह जी रिटायर्ड इन्जीनियर, रुड़की (वर्तमान बा० श्री नित्यानन्द जी) ने भाषण दिया । आप सप्तम प्रतिमा के धारक हैं । बनारस में थे । लेक्चरार भी रह चुके हैं । अब आपने त्याग ले लिया है । आपने समझा कि नियम और व्रत किसे कहते हैं?

मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है । जो आत्मविज्ञानी होते हैं उन्हें ही यह प्राप्त होती है । साइंस दो प्रकार की होती है—एक 'पर' साइंस, दूसरी 'आत्म' साइंस । पर साइंस में यही बताया जाता है कि धातु और यह धातु मिलाई जाये तो यह बनता है, इसका फल यह होता हैं इत्यादि । आत्म साइंस में भी यही बात बताई जाती है कि यदि यह परिणाम किया तो यह फल होगा और यह परिणाम किया तो यह फल होगा । उसमें

यह भी बताया जाता है कि सुख के मार्ग में चलने का उपाय क्या है? बा० वासुदेवप्रसादजी ने बताया—''सच्चा विश्वास, ज्ञान और क्रिया ही मोक्ष का मार्ग है ।'' आत्मा का आत्मा में लीन हो जाना यही सुख का मार्ग है । इस समय आत्मा कर्मों के बंधन में बंधी हुई है । जिन चीजों की इस आत्मा को जरूरत नहीं है, जिनके बिना आत्मा रह सकता है, जिनके बिना आत्मा की किसी प्रकार की भी हानि नहीं है उन चीजों की छोड़ना भी चारित्र कहलाता है । वास्तव में तो आत्म स्थिति चारित्र है, फिर भी वह साधन तो है ही । आत्मा के ५ शत्रु हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ । इन कषायों का त्याग करना ही आत्मधर्म है । इनमें मिथ्यात्व प्रधान है । मिथ्यात्व का अर्थ है मोह यानी यह मेरा, यह शरीर मेरा, यह पुत्र मेरा, यह धन मेरा यह मकान मेरा इत्यादि । क्रोध का अर्थ है गुस्सा करना, मान का अर्थ घमंड; माया माने कपट और लोभ माने पदार्थों का लालच । इन पाँचों दुश्मनों से छुटकारा पाना ही संयम, चारित्र या त्याग कहलाता है । अब प्रश्न होता है कि क्या त्याग, व्रत, नियम, 'पर' पदार्थ के आश्रय हैं या स्वयं आत्मा के आश्रय हैं ? उतर सीधा साधा यही है कि त्याग, व्रत, नियम आदि सब आत्मा ही के आश्रय हैं, परन्तु अनादि काल से मोह का इतना तीव्र संस्कार चला आ रहा है कि कोई निमित्त मिला भाव खराब हो जाता है । जिनको आत्मा पर दया आ जाती व उनकी निवृत्ति में बाह्य पदार्थों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती तो वह उनका त्याग कर देते हैं । बाह्य पदार्थ का त्याग तो केवल इसलिए किया जाता है कि उनके निमित्त से जो आत्मा में क्षोभ पैदा होता था वह न हो और आत्मा सुख और शान्ति का अनुभव करे । त्याग का फल तो वास्तव में यही है कि त्याग करने के बाद उस वस्तु के निमित्त से होने वाले क्रोध आदि कषाय की उत्पत्ति ही न हो । ज्ञानी पुरुष वस्तु के यथार्थज्ञान से अपनी दृष्टि निर्मल करते है जिससे शुद्ध स्थिति की रुचि होती है । इसके बाद प्रतिमारूप व्रत लिया जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित नियम लिया जाता है । इसमें यह होता है कि शुद्ध भोजन करूंगा, हिंसा नहीं करुंगा, सत्य बोलूँगा, चोरी न करुंगा, ब्रह्मचर्य से रहूंगा, परिग्रह का परिमाण करुंगा, दिशाओं की मर्यादा करूँगा, नियम रूप से सामायिक करुंगा, अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास करुंगा, भोगोपभोग सामग्री का परिमाण करुंगा, अतिथि को दान दूंगा इत्यादि । जो प्रतिमा लेने की इच्छा करें वह अपने भाव इस प्रकार बनायें । आप अपनी श्रद्धा में जो बाह्य व गन्दे पदार्थ हैं जिन में धन की भी हानि है, आत्मा का हित नहीं है अपने पर दया करके त्याग का नियम लेंगे ऐसी मुझे आशा है ।

(५)

''श्री समयसार' प्रवचन

[दिनाङ्क ३०-११-१९५२]

श्लोक 1-24

विजहति न हि सत्तां प्रत्यया: पूर्वबद्धा:

समयमनुसरतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।

तदपि सफल रागद्वेषमोहव्युर्दासा-

दवतरति न जातु ज्ञानिन: कर्मबन्ध: ।।१-२४।।

पहले बांधे हुए जो कर्म हैं, आस्रव हैं, वह अब भी सत्ता को नहीं छोड़ रहे, वह द्रव्यरूप ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा में सत्ता को रख रहे हैं, फिर भी ज्ञानी जीव के परपदार्थों में मोह न रहने के कारण पिछले कर्म और कर्म बांधने में समर्थ नहीं हो पाते । अमुक कार्य हो जाय तो धर्म कार्य में लगेंगे इस प्रकार जो समय की प्रतीक्षा करते बाट जोहते रहते हैं उनके उस भाव के रहते कल्याण का समय कभी आता ही नहीं है । धर्म क्या कोई चीज है जो परिवार का सम्बन्ध न रहे तब हो, जब इतना धर्म हो तब हो? नहीं । धर्म तो आत्मा की वीतराग परिणति का नाम है । जिस समय स्वभावदृष्टि हो जाये, सबसे भिन्न जो आत्म तत्त्व है उसका ही ध्यान हो, उसका ही अनुभव हो तो उसी समय धर्म हो गया । आज दोपहर को एक समारोह हुआ जिसमें कुछ सज्जनों ने व्रत, प्रतिमा आदि लिये । भैया ! छठी प्रतिमा तक तो गृहस्थी में रहता हुआ, स्त्री होते हुए, बच्चे होते हुए भी ली जा सकती है । काम तो प्रतिमा लेने का गृहस्थों का है, परन्तु आज उनके मत्थे पड़ रही है जिन्होंने घर का त्याग कर दिया है । क्योंकि आरम्भ से हमारे संस्कार ऐसे नहीं हैं इसलिए प्रतिमा लेना, व्रत लेना कठिन सा हो गया है । गृहत्यागियों का तो ढंग ऊँची प्रतिमा व साधुव्रत में ठीक है । कौन कैसा मनुष्य है जो बड़े-बड़े कष्ट; बड़े-बड़े परिषह सहन नहीं कर सकता? परन्तु जब सब प्रकार आराम से रहने की परिस्थिति हो, घर वालों का प्रेम भी हो, धन वैभव भी हो तब ऐसा अनुभव होता है कि यह नियम हमसे न पल सकेगा । दिल मजबूत होना चाहिये फिर व्रत का पालन कोई बड़ी बात नहीं है । दो या तीन बार खाने के अलावा खाने का त्याग अमीर व गरीब सभी कर सकते हैं । इन्दौर के सेठ कल्याणमलजी की दूसरी स्त्री अक्सर बीमार रहती और साल में लगभग १००-१२५ उपवास भी करती थी । हमने कहा कि इतने उपवास न किया करो तो उसने उत्तर दिया कि ''सब कुछ घर में होते हुए मैं न खाऊं, मैं न उसमें रुचि करूँ'' मैं तो अपनी तबीयत इस प्रकार की बनाना चाहती हूँ और दूसरे मेरा बाल्यकाल से वैधव्य जीवन है उसको अनेक उपवासों से गुजारना ही ठीक था । सो भैया ! अमीर होकर, बढ़िया पदार्थ अपने पास होकर भी उपवास करना बहुत बड़ी चीज है । यह मनुष्य भव पाना बड़ा दुर्लभ है । धन होते हुए भी नियमित रूप से भोजन करना ही चाहिये । हां....तो....द्रव्य कर्म अपनी सत्ता नहीं छोड़ रहे हैं, फिर भी ज्ञानी के नवीन कर्म बंध नहीं होता । वैसे तो पहले बंधे हुए कर्मों का बंध होता है, कार्माण वर्गणायें और आत्मा एक क्षेत्रावगाह अवश्य हो रहे हैं, परन्तु आत्मा में नहीं बंधते । कर्म-कर्म से बंधते हैं क्योंकि मूर्तिक का मूर्तिक से ही बन्धन हो सकता है । हाँ, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है । ज्ञानी के क्योंकि रागद्वेष नहीं होता इसलिये उसके कर्म भी नहीं होता । अपनी आत्मा में उत्साह रखना बल रखना, जैसी भी परिस्थिति हो प्रसन्नतापूर्वक सहनकर लेना यही सुख और शान्ति का मार्ग है । हमें तन का अधिक सुखिया नहीं होना चाहिये । समर्थता होते भी अर्थ दीनता अनुभव नहीं करना चाहिये कि यह व्रत ले लिया तो कैसे पूरा होगा इत्यादि । चाहे जैसी स्थिति हो राग, द्वेष, मोह का त्याग करना चाहिए । यह बाह्य समागम तो इन्द्रजाल है ।

इस बाह्य समागम में यदि मन को लगाया राग किया तो मिलेगा क्या? एक दिन तो यहाँ नहीं बने रहेंगे । अत: इनसे ममत्व छोड़ो ।

ज्ञानी के राग, द्वेष, मोह असम्भव है, इसलिए उसके कर्मबंध नहीं होता । अगर कोई किसी को मित्रता में गाली दे-दे तो सुनने वाले को बुरा नहीं लगता, परन्तु गाली के वही शब्द यदि कटाक्ष से दूसरे को चिढ़ाने के लिए कहे जावें तो वह बुरा मान जाता है । तो भैया सिद्ध हुआ कि शब्द तो बुरे भले नहीं हैं, वह तो ग्लानि के योग्य नहीं हैं, परन्तु ग्लानि के योग्य तो वह भाव हैं जिससे वह शब्द कहे गये हैं । जिस अभिप्राय से कोई गाली देता है जब हम उसका यह अभिप्राय जान लेते हैं तो हममें उसका वैसा ही असर हो जाता है ।

जो पुरुष शुद्धनय को एकाग्र होकर संग्रह करते, जो ज्ञायक भाव का ही आश्रय लेते हैं, वे राग, द्वेष, मोहादि से मुक्त होकर समय (आत्मा) के सार को देखते हैं । जिसकी जैसी दृष्टि पड़ती है वैसा हो जाता है एक बार एक राजा शिकार खेलता हुआ जंगल में एक बुढ़िया की कुटिया में जा पहुँचा । बुढ़िया ने उसको एक सामान्य अतिथि समझा और उसको एक गन्ना लेकर उसका रस पिलाया । जब उस गन्ने को निचोड़ा तो एक सेर रस निकला । राजा ने पूछा ''बूढ़ी अम्मा ! तुम्हारे खेत पर राजा क्या लगान लेता है ।'' उत्तर मिला—''एक रुपया साल ।'' राजा के मन में विचार आया कि लगान बहुत कम है अधिक होना चाहिये । चलते समय जब उसको फिर रस पिलाया गया तो उन्हीं गन्नों में से केवल एक-एक छटांक रस निकला । राजा ने आश्चर्य से पूछा—''क्या बात है ?'' बुढ़िया ने उत्तर दिया 'मालूम होता है कि राजा के मन में कुछ फर्क आ गया है ।' (हँसी) सो भैया, भावों का असर अवश्य होता है । न शब्दों का असर होता है और न ही क्रिया का । यही श्रद्धा रखनी चाहिये कि मुझे परेशान करने वाले, दुःखी करने वाले कोई चेतन व अचेतन बाह्य पदार्थ नहीं हैं । देखा जाये तो इनका कुछ असर भी नहीं पड़ता । जैसे पागल किसी को गाली दे और यह पता चल जाये कि गाली देने वाला तो पागल है तो उसको बुरा नहीं लगता । इसी प्रकार हमको भी विचारना चाहिये कि मोह में पागल हुए ये लोग ऐसी चेष्टा कर रहे हैं अपने स्वभाव से नहीं कर रहे हैं । अन्तर, चेष्टा स्वभाव से ऐसी होती ही नहीं है । इस प्रकार की भावना करने वाला ज्ञानी पुरुष व्यवहार में रहता हुआ भी, घर में बच्चों में रहता हुआ भी कुछ न कुछ विशेषता अवश्य रखता है ।

जो राग, द्वेष, मोहादि से मुक्त हो जाते हैं वह अपने अन्दर परमात्मा के दर्शन करते हैं । राग द्वेष पैदा न होने देने का उपाय है आत्मस्वभाव को पहिचानना कि मैं तो एक हूं, स्वतन्त्र हूँ, सबसे भिन्न हूँ, परपदार्थ मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं कर सकते । व्यवहार में भी तो किसी त्यागी साधु को देखकर कह दिया करते हैं कि ये तो भगवान के अवतार हैं । न जाने किस भेष में भगवान के दर्शन हो जायें । बात भी ठीक है क्योंकि हर एक आत्मा का स्वभाव भगवान् जैसा है । न जाने कब कौन व्यक्ति अपने में से राग, द्वेष, मोह को अलग करके शक्तिरूप परमात्मस्वरूप को व्यक्त कर ले? राग, द्वेष, मोह को जितना-जितना कम किया जाता है परमात्मा के उतने ही पास पहुंचते जाते हैं । इसके विपरीत जो लोग ऊटपटांग धाँधलाबाजी मचाते हैं, भंग

पीकर ही कहते हैं कि भगवान के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं और गीत भी ऐसे ही ऐसे बना रखे हैं जिनसे यह झलकता है कि भंग पीने के बाद भगवान के दर्शन होते हैं, वह सब व्यर्थ की कल्पना है । उनकी बातों में आकर बहुत से लोग उनकी ओर प्रवृत्त होकर व्यसनी हो जाते हैं और एक व्यसन के बाद और व्यसनों का भी वह आदी बन जाता है । भगवान् दीखता है राग, द्वेष, मोह के अभाव होने पर । भगवान् आँखों से नहीं दीखता, परन्तु राग, द्वेष, मोह के अभाव में आत्मानुभव होने पर परमात्मा-अनुभव हो जाता है । परमात्मा का दर्शन इन्द्रियों के संयम के आधीन है । अपनी इन्द्रियों का सदुपयोग किया, विषयभोगों में न लगाया, आत्मध्यान हुआ भगवान का दर्शन हो गया । जिसने शुद्ध नय का अवलम्बन किया वही परमात्म का दर्शन करता है ।

हमें तो सदैव यही विचारना चाहिये, यही प्रार्थना करनी चाहिए कि मेरे अन्दर ऐसी पवित्रता आये, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति इतनी पवित्र हो कि चाहे कैसा ही उपद्रव क्यों न आये, किसी का भी अहित मन तक में भी न आवे । वचन और काय की बात तो दूर रही निर्मलता की रुचि न रखने से क्या होता है ?....पूजन करके घर पर आई और देवरानी, सास वगैरह से लड़ने लगी—बताओ उस पूजने का क्या लाभ लिया? मंदिर में गये और भाई-भाई में झगड़े होने लगे, बताओ मन्दिर जाना किस काम का रहा? भाई ! धर्म तो इसमें है कि मन को ऐसा पवित्र बनायें कि किसी का अहित भी न सोचें । पुरुषों-पुरुषों में महिलाओं- महिलाओं में झगड़े होते हैं । इनका मूल कारण देखा जावे तो समझ में आयेगा कि अपने बड़प्पन को रखने के लिए ही कि मैं बड़ा हूं, ये सब झगड़े होते हैं । पर भैया, बड़े तो कषाय छोड़ने से होंगे । अपने अन्दर ऐसा बल पैदा करो कि जो संयोग, जो सम्पत्ति, जो वैभव प्राप्त हुआ है, उसमें मेरा ममत्व अर्थात् ये मेरे हैं ऐसी कल्पना ही न हो । बस फिर सुख ही सुख है ।

जो शुद्धनय से च्युत होकर रागादि करते हैं वही कर्मबन्ध करते हैं और उनको नाना प्रकार की दुर्गतियों में जाना पड़ता है । परन्तु जो ज्ञानी होते हैं, किसी भी परिस्थिति में हार्दिक निर्मलता में अन्तर नहीं करते । सागर में श्री चिरोंजा बाई थी । उन्होंने अपनी ननद ललिताबाई को जो बेपढ़ी-लिखी थी कह रखा था कि अगर कोई लिखा हुआ कागज कूड़े में पड़ा हो तो उसको उठाकर रख दिया करो । एक दिन ललिताबाई ने भक्तामर काव्य लिखा कागज कूड़े में ही बुहार दिया । बाईजी को क्रोध आया । उन्होंने उसकी चुटिया पकड़कर उसका सिर दीवार में दे मारा, परन्तु दीवार और उसके सिर के बीच में अपना बायां हाथ रख लिया ताकि उसके चोट न लगे । उन्हें क्रोध तो आया, परन्तु ज्ञान रहा इसीलिये ऐसी प्रवृत्ति हुई । सो भैया ! ज्ञान तो हमेशा रक्षा करता है । ज्ञान कभी धोखा नहीं दे सकता । पतन करने वाली तो कषाय है जिन निमित्तों से कषाय उत्पन्न होने की सम्भावना हो उन निमित्तों का त्याग करना यही तो व्रत है, यही नियम है । सदैव ऐसे भगवान् को पूजो जिसमें वह भाव वह चीज न हों जो हमें रुला रहे हैं, दुःखी बना रहे हैं, खोटा बना रहे हैं । अगर मैं, मेरे अन्दर रहने वाले राग के कारण दुःखी हूँ तो रागरहित भगवान् की पूजा करूँ तो राग से छूट सकता हूँ । सारांश यह निकला कि जिस आत्मा ने राग, द्वेष, मोह को अपने अन्दर से हटा

दिया है वही पूजने योग्य है और जो स्वभाव उस आत्मा का वही तो हमारा भी स्वभाव है । इस प्रकार का विचार, इस प्रकार का चिन्तवन यही तो सुख और शान्ति का मार्ग है ।

शुद्धनय हेय नहीं है । शुद्धनय का सहारा लेने से कर्मबंध नहीं होता । योग अथवा समाधि इसी को तो कहते हैं कि बाहरी पदार्थ का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव में लीन हो जाये । सदैव यह श्रद्धा रखे कि मैं तो अकेला हूँ, स्वतन्त्र हूँ, सबसे भिन्न हूँ, यहाँ तक कि इस शरीर से भी न्यारा हूँ, इन कपड़ों से भी न्यारा हूँ, किसी का मेरे से कोई सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार की श्रद्धा ही सुखी करने में सहायक है और देखो तो भैया ! अपने पास है ही क्या? तीर्थंकरों को तो देखो जो सबसे बड़े भारी वैभववान् थे वह भी सर्व का त्यागकर निष्परिग्रही बने और शांति पा सके । मल्लयुद्ध में एक मल्ल ने दूसरे मल्ल को हराया, फिर उसने तीसरे से युद्ध किया, उसको भी जीता, चौथे से किया उसे भी हरा दिया, परन्तु जब आखिरी मल्ल से युद्ध हुआ तो स्वयं हार गया तो विजयी का टाइटिल तो आखिरी मल्ल को ही मिलेगा, यद्यपि वह केवल एक ही मल्ल से जीता और पहला मल्ल तीन मल्लों को जीतने पर भी विजयी नहीं कहलाया । इसी प्रकार सम्पदा में चक्रवर्ती भी बहुत महान् होते हैं, परन्तु सबसे बड़े तो तीर्थंकर ही कहलाते हैं जिनके आगे चक्रवर्ती भी माथा नवाते हैं । अपने को स्वतन्त्र निरखो पर-पदार्थों में भिन्न समझो तो कर्म न बंधेंगे और ऐसी श्रद्धा करने में ही अर्थात् अपने को स्वतन्त्र समझने में ही जीवन की सफलता है ।

(६)

'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन

[दिनाङ्क १-१२-१९५२]

श्लोक 1-41

ज्ञप्तिमात्रदशाया न दुःखं स्यात्कर्मनिर्जरा ।
सैषोऽहं ज्ञप्तिमात्रोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।१।।४१।।

मैं तो ज्ञाता स्वरूप हूं । मुझ आत्मा के जानने पर अर्थात् आत्मज्ञान होने पर कषाय शिथिल हो जाती है, दुःख नहीं रहता व कर्मों की निर्जरा हो जाती है । कितने लोग कषायों को दूर करने का प्रयत्न करे और आत्मज्ञान न हो, भले ही मंद कषाय हो जाये, परन्तु जड़ से कषायों का नाश नहीं हो सकता । उपयोग बिना हम एक क्षण नहीं रह सकते । परन्तु यह हमारे हाथ में है कि उस उपयोग को चाहे हम ज्ञान की ओर लगा दें चाहे कषायों की ओर, चाहे 'स्व' की ओर, चाहे 'पर' की ओर । जब पर्याय में बुद्धि रहती है, नाम, रूप, आदि में बुद्धि रहती है तब क्रोध आदि कषाय होते हैं । जहाँ सर्वपदार्थों से भिन्न आत्मत्व को जाना, उस ही को पहिचाना, कषाय समाप्त हो जाती है और मैं जानने के अतिरिक्त करता भी क्या हूँ ? ऐसी श्रद्धा करो कि मैं ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप हूँ, अजन्मा हूं, (जो वस्तु न हो वह हो जाये इसे जन्म कहते हैं) अमर हूँ, मेरा कभी

मरण नहीं होता । माता-पिता मेरे (इस आत्मा के) पैदा करने वाले नहीं, वे तो शरीर को ही पैदा करने में निमित्त हैं । बस मेरी तो यह स्थिति हो कि मैं तो रहूं और ये शरीरादि कुछ भी न रहें । बस मैं केवल ज्ञानमय आत्मा तो रहूं और कुछ न रहे । शरीर के नष्ट हो जाने पर कितनी विपदायें नष्ट हो जाती हैं? न भूख रहती है, न प्यास, न अनिष्ट संयोग, न इष्ट वियोग आदि । इष्ट और अनिष्ट की कल्पना भी तो इसी शरीर के संसर्ग से होती है और भैया ! भगवान भी तो उसे ही कहते हैं जहाँ शरीर नहीं रहता अर्थात् जब मोक्ष में जा विराजते हैं । इससे पहले भी अर्थात् तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में भी भगवान् कहा जाता है । यद्यपि वहाँ पर शरीर रहता है फिर उस शरीर सम्बन्धी राग मोह नहीं रहता । अत: शरीर रहना, न रहना बराबर ही है । 'भग' का अर्थ है 'ज्ञान' । 'भगवान्' का अर्थ हुआ ज्ञानवान् । जो निर्मोह और निष्कषाय हो वही भगवान् कह दिया जाता है और जो भी स्वभाव की ओर ढले भगवान् है, क्योंकि वह भी तो उसी मार्ग पर चल रहे है जिस पर चलकर भगवान् बनते हैं । अत: उपचार से उन्हें भगवान् कह दिया जाता है । कभी-कभी कारण में भी कार्य की कल्पना कर ली जाती है । ऐसे भगवान् की उपासना से ही कुछ प्राप्त हो सकता है । जड़ पदार्थों की उपासना से कुछ नहीं मिलता । विषापहार स्तोत्र में भगवान की स्तुति करते हुए बतलाया गया है कि 'ऊंची प्रवृत्ति वाले से कुछ नहीं मिलता और तुँग प्रवृत्ति के हों और हो अकिंचन, नग्नस्वरूप शरीर से भी रहित, उससे सब कुछ प्राप्त होता है । हे भगवान् ! आप उदात्त हो, महान् हो, जो आप से फल मिल सकता है वह धनिकों से नहीं मिल सकता ! क्योंकि आप अकिञ्चन हो, आपके पास कुछ भी तो नहीं है, यहाँ तक कि शरीर भी नहीं है । इसी कारण चाहे लोग सोचते हों कि आपकी पूजा करने से क्या मिलेगा? परन्तु ऐसी बात नहीं है । जब ज्ञान उपयोग में होता है तो उपयोग के शुद्ध होने के कारण कर्म समाप्त हो जाते और-और की तो बात ही क्या, परमात्मापद तक की प्राप्ति हो जाती है । तुंग प्रकृति वाला महान् होता है । एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से कुछ सम्बन्ध न हो तब वह अकिञ्चन कहलाता है । मैं तो ज्ञाता स्वरूप हूँ, न मैं किसी का, न कोई मेरा, न मैं मरता हूँ, न मैं जन्म लेता हूँ, फिर इस असार पृथ्वी पर जीने की क्या आशा करूँ? जिसको जीने की भी आशा न रही, उसने समझो बहुत सी इच्छाओं का त्याग कर दिया । जब मोह, राग, द्वेष रहता है तब जीने की इच्छा होती है । जब जीने की इच्छा समाप्त हो जाती है फिर उसके रागद्वेषादि हों तो क्यों हों? जब बाह्य पदार्थ के मोह का अभाव न हो जाने की इच्छा का अभाव नहीं होना । एक बूढ़ा आदमी था । उसके पुत्र, प्रपौत्र आदि सब कुछ थे । एक दिन वह अपने दरवाजे पर बैठा रो रहा था । एक साधु महाराज उधर से निकले । उन्होंने पूछा 'भई तुम क्यों रो रहे हो ?' बूढ़ा उत्तर देता है कि महाराज, मैंने बड़े कष्ट सहन करके अपने पुत्रों को इतना बड़ा किया है, सब तरह से उनको सामर्थ्यवान् बनाया है । पुत्रों के पुत्रों को भी लाड़ प्यार से पाला पोसा और अब.... (रोकर) महाराज, वे सब मुझे खाने को दौड़ते हैं, गाली देते हैं और पीटते भी हैं, मेरी बड़ी दुर्गति बना रखी हैं उन्होंने । साधु ने कहा, ''भाई इसका तो सीधा-साधा उपाय हैं । तू इन सबका मोह छोड़कर हमारे साथ चल, तुझे किसी प्रकार भी कष्ट नहीं होगा ।'' बूढ़ा क्या उत्तर देता है सुनने लायक है । वह कहता है,

'महाराज यह तो सब ठीक है, परन्तु हैं तो वे हमारे पुत्र और प्रपौत्र ही व मैं उनका दादा बाबा । उनको कैसे छोड़ूं । वे चाहे मुझे मारे या गाली दें, पर मेरी तो यही इच्छा है कि वे सुखी रहें। आप बीच में कौन दलाल होते हैं? कृपया आप मुझे मेरी ही हालत पर छोड़ दें ।' (हंसी) बस ऐसी ही दशा आज हमारी सबकी हो रही हे । पिट कर भी, गाली सुनकर भी उनसे पृथक् नहीं होना चाहते । भीतर में मोह, राग है, वह मिटता नहीं है, फिर उनसे अलग हों तो कैसे हों? सोचना तो यह चाहिए—मैं तो ज्ञायक हूं, अजन्मा हूँ, फिर जीने की आशा का त्याग कर असली स्वतन्त्रता क्यों न प्राप्त करूं?

जितने पाप होते हैं सब जीने की आशा के पीछे होते हैं । इस जीव को इस प्रकार सोचना चाहिए कि मेरा मरण नहीं होता, मैं सबसे न्यारा हूँ, तीन काल में एक परमाणु भी मेरा नहीं हो सकता यह वस्तु का स्वरूप है, अणु सब स्वतन्त्र हैं, एक का स्वरूप दूसरे में प्रवेश नहीं करता, मैं तो अदृश्य हूँ, देखने वाले लोग तो मेरे नाम और रूप को ही जानते हैं, मेरे चैतन्यस्वरूप को कौन देखता है, इसमें रूप नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं और रस नहीं, मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं इस असार पृथ्वी पर क्या कीर्ति चाहूं? इस प्रकार विचार करके जब वह कीर्ति की भी आशा छोड़ देगा तो अपने द्वारा अपने में स्वयं सुखी होगा । साहित्यकारों ने लिखा है कि कीर्ति ठोकरें खाती फिरती है, एक ठिकाने बनकर नहीं रहती, किसी एक आत्मा को चुनकर उसी के पास नहीं रही । इसका कारण केवल एक यही है कि जो कीर्ति को चाहते हैं उन्हें यह कीर्ति नहीं चाहती और जिन्हें कीर्ति चाहती है वह कीर्ति को नहीं चाहते । इसलिए मैं कीर्ति की आशा का त्यागकर अपने में अपने द्वारा स्वयं सुखी होऊँ ।

मैं तो ज्ञायक हूँ, अबन्ध हूँ, अमूर्तिक हूँ । जो कर्मों का बन्धन होता है वह इन विचारों से ही होता है कि ये मेरे हैं 'पर' पदार्थों में इस प्रकार का भाव किया कि वह बंध गया, दुनिया के आधीन हो गया । जिसकी मान लो आज सगाई हुई अभी शादी भी नहीं हुई वह युवक आज ही से उस लड़की को अपनी पत्नी, उसके पिता को अपना श्वसुर, उसकी माता को अपनी सास समझने लगता है । वह लड़की भी उसको अपना पति समझने लगती है । इसी विचार से वह उसी दिन से पति के आधीन हो जाती है । इसी प्रकार की परतन्त्रता अपने ही विचारों से हो जाती है । एक बार हमारी और बा० चंपालालजी सेठ की चर्चा हो रही थी । बीच में एक मुसलमान भाई बोले—'इन्सान जिस समय पैदा होता है गुलाम नहीं होता । बच्चे को कोई फिक्र नहीं, आशा नहीं रहती इस तरह वह स्वतन्त्र रहता है । बाद में वह बड़ा होता है, उसका विवाह होता है, परिवार बढ़ता है, अपना पराया जानने लगता है तभी से वह गुलामी में जकड़ा चला जाता है' और उनका कहना इस तरह ठीक भी है क्योंकि जैसे-जैसे विषयाशा बढ़ती जाती है बंधन भी बढ़ता है, अत: मैं विषयों की आशा का त्याग कर अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

आशा का त्याग ही मेरा बन्धु, मेरा रक्षक और मेरा पिता है । जिसकी निराशा में भी निराशा है ऐसे महान् आत्मा की तुलना नहीं की जा सकती । जिसकी मोक्ष की भी इच्छा नहीं उसकी महानता का मुकाबला कौन कर सकता है? इसलिए मैं निराशा का अवलम्बन करूँ और अपने में अपने द्वारा स्वयं सुखी होऊँ । एक

मनुष्य के तीन पुत्र थे । बड़े सुन्दर परन्तु थे तीनों ही तोतले । जब उन्हें सगाई पर देखने के लिए नाई आया तो पिता ने समझा दिया कि तुम बोलना मत । नाई उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उनकी प्रशंसा करने लगा । प्रशंसा करते-करते उसने यह भी कहा कि देखो छोटे लड़के की टोपी कितनी सुन्दर लगती है । बस छोटे लड़के को आशा हो गयी बड़प्पन की और वह फौरन ही बोल उठा 'अधी क्या देक्खा है जब मैं बेलडार टोटी लडाकर बैठूंडा टब डेटना मुझे ।' दूसरा लड़का भी बोल उठा 'डड्डा जब मना टर डये ठे टो टुम टयों बोले ।' बस तीसरे लड़के से न रहा गया वह भी बोल उठा 'टुम भी बोले, और टुम भी पर डेठो मैं टुप ही हूँ ।' बस नाई उनकी बातें सुनकर वापिस चला गया । चौबे जी गये थे छब्बे जी होने और रह गये दुबे जी । इसी तरह से जब हम चुप रहते हैं, अपने में मग्न रहते हैं हम महान हैं और जब हम बोल पड़े, क्योंकि हम हैं तोतले (इन्द्रियों का उपयोग हमारा ठीक जो नहीं है) उन विषयों के द्वारा महत्ता दिखाने को तैयार हुये तो बस हमारी दुर्गति हुई । कोई आजकल इसी में बड़प्पन समझता है कि नाजुक बने रहें, सुखिया बने रहें । 'न'—खरे दिखाने में गौरव अनुभव करते हैं । नखरे अर्थात् जो अच्छे न हों । खोटी बात बनाना ही तो नखरे करना हुआ । भाई ! अगर मनुष्य शरीर पाया है तो इसको सुखिया स्वभाव मत बनाओ । इसको तपस्या में लगाओ शरीर के सुखी (बेकार) होने से आत्मा सुखी नहीं होता और इसके दुःखी होने से आत्मा दुःखी नहीं होता । सुखी होने का उपाय तो केवल एक यही है कि भावों को निर्मल रखा जावे । जहां शरीर में अहंबुद्धि हुई कि शरीर ही मैं हूँ, कषाय पैदा होने लगती है । क्रोध के मारने का उपाय तो यह है कि क्रोध के स्वरूप को जान जायें । यह समझ जायें कि यह क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा से अलग भी किया जा सकता है । ऐसी श्रद्धा कर उसको हटाने का प्रयत्न करें, फिर कोई कारण नहीं कि वह समाप्त न हो जाये । इसी प्रकार और कषायों के विषय में भी समझना चाहिये । कषायवान् का हर जगह निरादर होता है । क्रोधी से कोई बात नहीं करना चाहता । मानी से दूर ही रहना चाहते हैं, कपटी को कोई अपने पास बैठाना भी नहीं चाहते और लोभी के विषय में तो यहां तक भी कह दिया जाता है कि अगर लोभी का सुबह-सुबह मुँह देख लिया जाये तो शाम तक खाना भी न मिले । अतः कषाय बहुत बुरी चीज है । कषाय का त्याग करना चाहिये और कषाय का मूल कारण है आशा । अतः आशा का त्याग हो सर्वोपरि है और इस ही का त्याग कर हम अपने में अपने द्वारा स्वयं सुखी हो सकते हें ।

'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन

[दिनांक ४-११-१९५२]

श्लोक 1-3

अहं स्वं जन्मत्यादि सुखं दुःखं मयाम्यहम्।

मुक्तौ नेता गुरुस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।१।।३।।

हमारी जितनी भी अवस्था हैं सुख की, दुःख की, जीवन की, मरण की सबमें ले जाने वाला मैं ही तो हूं ।

अत: मैं ही अपना गुरु, अपना नेता हूँ । इसलिए मैं अब अपने ही में अपने को क्यों न लगाऊँ? ऐसा करने से ही मैं अपने द्वारा अपने में अपने लिए स्वयं सुखी हो सकता हूँ । राजा भोज का समय था । एक कवि ने विचार किया कि बहुत दिनों से राजा के यहाँ से कोई इनाम नहीं मिला । ऐसा सोचकर वह राजा के महल में चोरी करने के लिये गया और राजा के पलंग के नीचे ही छिपकर बैठ गया । रात्रि में राजा विचारता है और कविता बनाता है 'चेतो हरा युवतय: सुहृदोऽनुकूला । सद्बान्धवा: प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्या: ।। गर्जन्ति दन्तिनिवदास्तरलास्तुरङ्गा ।' अर्थात् मेरे स्त्री भी सुन्दर है, मित्रगण भी मेरे अनुकूल हैं, हाथी भी बहुत हैं, घोड़ों की गर्जना होती रहती है । इस प्रकार अपने वैभव का विचार करते हुए उसने तीन चरण तो बना लिए, परन्तु चौथा न बन सका । तब उस चोर कवि से न रहा गया । झट बोल उठा—'संमीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' अर्थात् महाराज ! आँखों के मींचने पर, तो कुछ भी नहीं है । सो भैया ! हृदय में विचारो तो आंखों के मींचने पर, आत्मा के इस शरीर से निकल जाने के बाद रह ही क्या जाता है? इसलिए इस संसारी वैभव में ममत्व नहीं करना चाहिये । यह ममत्व ही संसार का मूल है । अब तो यही उचित है कि इस प्रकार का सम्यक्ज्ञान अपने में जागृत करो कि मैं तो एकाकी हूँ, सबसे भिन्न, कोई मेरा नहीं है ।

बताओ क्या आपको शरीर इष्ट है? क्या आप चाहते हैं कि बार-बार शरीर मिलता रहे? तो इसका भी एक नुस्खा है और अगर इस शरीर को बुरा समझते हो और उससे छूटना चाहते हो तो उसका भी एक बढ़िया नुस्खा है । शरीर में आत्मबुद्धि करते जाओ, ये शरीर मेरा है, बस शरीर मिलता जायेगा और अगर शरीर से छूटना चाहते हो तो इस प्रकार विचार करो कि शरीर-शरीर है, मैं-मैं हूँ, अर्थात् मैं आत्मा हूं, शरीर पुद्गल है, मैं चेतन हूँ, शरीर जीर्ण, शीर्ण हो जाता है, मैं जीर्ण, शीर्ण नहीं होता । उर्दू में अगर शरीर में बड़े 'श' की बजाय छोटा 'स' लगा दिया जाये तो सरीर बन जाता है, जिसका अर्थ है 'बदमाश' । सो भैया ! यह शरीर बहुत बदमाश है । चाहे इसे कितना ही खिलाओ, पिलाओ, सदा इससे मल ही, दुर्गन्धित वस्तु ही निकलती रहती है । इस प्रकार की भावना निरन्तर आने से एक दिन ऐसा आयेगा कि शरीर का सम्बन्ध ही समाप्त हो जायेगा अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी । पिछले भव में जो मेरा परिवार था उसमें मोह का कितना विकल्प बढ़ाया, अन्त समय में वह भी छूट गया । यह जो कुछ सम्बन्ध मिला है कितनी देर का है? यह भी तो छूटेगा ही । ऐसा विचार कर तो यही श्रद्धा रखना ठीक है कि मैं तो ज्ञानमात्र बुद्धि वाला होऊँ और अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

परपदार्थ में आत्मबुद्धि की भ्रान्ति से बहुत क्लेश होता है । क्लेश मिटाने का एकमात्र उपाय है—यह भ्रान्ति दूर करना अर्थात् आत्मा को परपदार्थ से भिन्न श्रद्धा करना । भ्रान्तिजन्य क्लेश मिटाना बहुत कठिन है । बाह्य परपदार्थ में सुख का भ्रम जब हो जाता है कि अमुक पदार्थ से सुख होता है, अमुक पदार्थ सुख का देने वाला है, इस भ्रम से पैदा होने वाला क्लेश कभी मिट नहीं सकता । चाहे कितने ही सम्बन्ध हो जायें, स्त्री हो जाये, पुत्र हो जाये, वैभव हो जाये, यदि यह श्रद्धा है कि मैं इनसे सुखी होता हूँ तो ऐसी श्रद्धा करने वाला मनुष्य सदा दुःखी ही रहेगा । मेरा तो यही कर्तव्य है कि अपने यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा करूँ । यथार्थ

स्वरूप क्या? मैं तो स्वतन्त्र, एकाकी, सबसे भिन्न हूं, सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमते हैं, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, न उससे कुछ ले सकता है, न कुछ उसे दे सकता है । इस प्रकार का सम्यक्ज्ञान हो तो मैं अपने में अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी हो जाऊँ ।

अन्य पदार्थ तो अन्य होने से दुःख ही हैं । निज आत्मा निज होने से सुख ही है । आत्मा से भिन्न जो भी पदार्थ हैं वह अन्य हैं, आत्मा से अलग हैं अत: दुःख है । जितने भी पदार्थ हैं वह सब विभाव उत्पन्न होने के कारण होंगे । स्वभाव विकास का कारण तो निज-मग्नता ही है । समवसरण में साक्षात् भगवान् को भी देख रहे हैं, उनकी वाणी भी सुन रहे हैं, परन्तु जब तक देखने पर व सुनने पर उपयोग रहेगा तो विभाव ही रहेगा और जब उससे उपयोग हटकर अपने पर दृष्टि आवेगी तब ही सुख है, तब ही स्वभाव विकास है । स्वभाव विकास का कारण परपदार्थ हो ही नहीं सकता । हम परमेष्ठी का दर्शन करते हैं, पूजन करते हैं फिर यह सब क्यों है? अरे भैया ! ये तो सब निमित्त मात्र हैं उस शुभोपयोग पैदा करने में जो कि शुद्धोपयोग (जो आत्मा का स्वभाव हैं) को लाने में निमित्त कारण पड़ते हैं । अत: कर्तव्य है कि निज के सत्य प्रयोजन में प्रयत्न करूँ और अपने में अपने द्वारा, अपने लिए, अपने आप स्वयं सुखी होऊँ ।

ज्ञानी के तो एक आत्मप्राप्ति की स्पृहा होती है । ज्ञानी से कोई पूछे कि क्या चाहते हो तो वह यही उत्तर देगा 'मुझे तो आत्मलाभ की इच्छा है, राग, द्वेष, मोह से दूर ज्ञान की स्थिति पा लूं यही चाहता हूं और कुछ नहीं । यदि बाह्य पदार्थ की इच्छा करुंगा को उनमें ममत्व परिणाम होने के कारण रुलता ही रहूँगा । आत्म लाभ से अन्य जगह में मेरी बुद्धि न जाये यही मेरी इच्छा है । मेरे राग, द्वेष, मोह, कषाय का परिणाम नाश हो यही मैं चाहता हूँ हित का चाहने वाला भी मैं हूँ, हित का जानने वाला भी मैं हूँ और हितरूप प्रवृत्ति करने वाला भी मैं ही हूँ, इसलिये अपनी सब अवस्थाओं का गुरु मैं ही हूँ । इसकी ही छत्रछाया में सुख है । अन्यत्र जो सुख की बुद्धि करना है कि ये मुझे सुखी करते हैं, जीवन व्यर्थ खोना है । बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य भव पाया है और इसको यूं ही परपदार्थों में राग बढ़ाकर, मोह बढ़ाकर व्यर्थ ही मत खोओ । भैया ! राजा भोज थे । चार देहातियों ने मिलकर सोचा कि कोई कविता बनाकर राजा को सुनायें और इनाम पायें । चारों चले । मार्ग में एक बुढ़िया राँटा अर्थात् चरखा चला रही थी । उनमें से एक बोला कि लो भाई एक चरण तो कविता का बन गया । क्या? 'चनर मनर, राँटा मन्नाय' । कुछ दूर चलने पर कोल्हू का बैल भुस खाते हुए दिखाई दिया । दूसरा झट बोल उठा 'कोल्हू का बैल खरी भुस खाय' । आगे एक पींजन (तरकस सा) लिए कोई आ रहा थी । तीसरा बोला 'वहाँ से आ गये तरकस बन्द' । चौथे ने कहा भई हम तो आशु कवि हैं, दरबार में ही कविता कहेंगे । चारों पहुँचे दरबार में । तीनों ने अपने-अपने चरण कहे । पहिला बोला—'चनर मनर, रांट मन्नाय' । दूसरा बोला—'कोल्हू का बैल खरी भुस खाय' । तीसरा बोला—वहाँ से आ गये तरकस बन्द । अब चौथे को कुछ न सुझा सो बोल उठा—'राजा भोज हैं मूसरचन्द' । वहाँ बैठे विद्वानों से उनकी कविता का अर्थ लगाने को कहा गया । एक ने उत्तर दिया 'महाराज ! ये कहते हैं कि शरीर का रांटा चनर मनर चल रहा है, जूं तूं करते जीवन गुजर रहा है और यह आत्मा परपदार्थ में राग

बढ़ा-बढ़ाकर कोल्हू के बैल की तरह संसार में चक्कर लगा रहा है कि अचानक ही तरकस बन्द यानी यमराज आ धमकेगा, इस पर भी राजा भोज नहीं चेतते और मूर्खराज ही बने हुए हैं ।' तो भैया ! बात भी सच है । जब हम बाह्य पदार्थों में ही विकल करते रहते है तो हम मूसरचन्द नहीं तो क्या हैं? परपदार्थ में ही ममत्व बढ़ाकर दु:खी हो रहे हैं । कभी इस आत्मा की सुध नहीं ली । थोड़े समय के लिए यह मनुष्य भव मिला है । इसके बाद न मालूम क्या-क्या हो जायें, पशु हो जायें, नरक में चले जायें निगोद में चले जायें । न मालूम क्या अवस्था हो हमारी? मनुष्यजन्म अमूल्य है । पशुओं में श्रेष्ठ मन नहीं होता है, नारकियों में भी नहीं होता, देवों में संयम नहीं है । इस पर भी वे सम्यक् प्राप्त कर लेते हैं और हम हैं कि सब कुछ सामर्थ्यवान् होते हुए भी विषयांध हुए अपने जीवन को बेकार खो रहे हैं । यदि हमें विवेक हो जाये, हित अहित का ज्ञान हो जाये तो एक दिन हम ही तो परमात्मा बन सकते हैं ।

ज्ञान जानता किसे है? लोगों को दिखता है इसने यह जाना, इसने चौकी जानी, लालटेन जानी इत्यादि । परन्तु यदि विचारो तो मालूम पड़ेगा कि ज्ञान तो केवल ज्ञान को ही जानता है, बाह्य को नहीं । दर्पण में ५० वस्तुएँ झलकती हैं, हम दर्पण को बता सकते हैं यह झल का वह झलका । इसी प्रकार ज्ञान में सब ज्ञय आते हैं, परन्तु ज्ञान तो केवल ज्ञान को ही जानने वाला है । उसका काम उसमें ही होता है । जैसे आम आज खट्टा है, कल मीठा हो गया तो उसका रस उसमें ही बदला, बाहर से कोई उसमें आ जाये सो बात नहीं है । आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चरित्र है ! उनका परिणमन आत्मा में ही होगा, अपने से बाहर नहीं हो सकता, ज्ञान का काम केवल, ज्ञान का जानना है । जब ज्ञान परपदार्थ का जानना नहीं कर सकता, फिर स्वस्वामिता का भाव ही कहां रहा? मैं तो अद्वैत हूँ, एकाकी हूं, स्वतन्त्र हूँ—इस प्रकार की बुद्धि रखता हूँ, अत: अपने लिए अपने द्वारा स्वयं में स्वयं सुखी होऊँ ।

जानने मात्र की दशा में अर्थात् ज्ञान दशा में दु:ख नहीं । जब ऐसी अवस्था हो जाती है तभी निर्जरा होती है । तपस्या में भी चाहे शरीर को कितना ही कष्ट क्यों न दो, अगर यथार्थ स्वानुभव नहीं है तो वह तप भी कर्मों की निर्जरा करने में असमर्थ है । आत्मीय ज्ञानपरिणति से निर्जरा होती है । जब आत्मिक आनन्द आ जाता है तब निर्जरा होती है । जब बाह्य पदार्थ का विकल्प हट जाता है कि ये मुझ में कुछ कर सकते हैं तब ही कर्मों की निर्जरा होती है । मैं ज्ञानमात्र ही तो हूँ, फिर अपने को दूसरी तरह जानकर, दूसरे प्रकार श्रद्धा करके क्यों आकुलित होऊँ, क्यों दीन बनूं? मैं तो ज्ञानमात्र हूं—ऐसी ही श्रद्धा करूँ और अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

मैं जिसकी उपासना करता हूँ वही मिल जाता है और मैं बाह्य की उपासना कर भी नहीं सकता हूँ । मैं तो केवल अपनी ही उपासना कर सकता हूँ । जब अपनी उपासना में भगवान को विषय बनाता हूँ तो कहा जाता है कि भगवान् की पूजा कर रहा हूँ । यदि शुद्ध आत्मा की उपासना करूँ तो शुद्ध अर्थात् परमात्मा बन सकता हूँ और अगर अशुद्ध अर्थात् राग, द्वेष, मोहयुक्त की उपासना करूँ तो रागी द्वेषी, मोही ही बन बनकर संसार में परिभ्रमण करता रहूँगा । 'कल्याण' में एक कथा है । एक मनुष्य जंगल में जा रहा था । धूप बहुत

पड़ रही थी । वह थक कर एक पेड़ के नीचे बैठ गया । वह पेड़ था कल्पवृक्ष, परन्तु उसे ज्ञान न था । वह विचार करने लगा कि बड़ी प्यास लगी है कहीं से पानी मिलना चाहिए । बस विचार तो था कि तुरन्त ही पानी आ गया । इसी प्रकार जब खाने की इच्छा की खाना आ गया । जिस चीज की इच्छा की वही उपस्थित हो गई । फिर उसने सोचा अरे ऐसा मालूम होता है कि इस पेड़ पर तो कोई भूत रहता है । बस ऐसा विचारते ही भूत सामने आ गया । अरे कहीं यह खा न जाये, ज्योंही उसने ऐसा सोचा कि भूत उसे खा गया । भैया ! है तो यह कथानक ही, परन्तु आत्मा वास्तव में ऐसा ही कल्पवृक्ष है । अगर इसको कुसंगति में लगाओ तो वैसा बन जाये । रागी का ध्यान करो रागी बन जाये । मोही का ध्यान करो मोही बन जाये और अगर शुद्ध स्वभाव हो जाये परमात्मा हो जाये, इसलिये मेरा कर्तव्य है कि शुद्ध स्वभाव वाले कर्मों से रहित आत्मा का ही ध्यान करूँ ताकि मैं भी एक दिन वैसा ही बन जाऊँ ।

अब प्रश्न यह है कि अन्तरात्मा की चीज प्राप्त कैसे हो? इन्द्रिय और मन को संयम करके इसकी प्राप्ति होती है । इन्द्रियों का कार्य बन्द करो । किसी वस्तु को खाने को जी चाहता है मत खाओ । सूंघने को जी ललचाता है मत सूंघो । इसी प्रकार स्पर्श, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषयों से भी दूर रहो । इस तरह से सब तरफ से मन को हटाकर, निर्विकल्प होकर अन्तरात्मा का अनुभव करो, और अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होओ ।

पर भाई हमारी दशा तो लड्डू के मच्छर जैसी हो रही है कि खाते भी नहीं बनता और छोड़ते भी नहीं बनता । वास्तव में संसार के तमाम पदार्थ हम भोगना चाहें तो भोग भी नहीं सकते । हम तो केवल कल्पना ही को भोगते हैं । परन्तु परपदार्थों को छोड़ना भी हम नहीं चाहते । संग्रह ही करते रहते हैं । पर जब इन पदार्थों से ममता हट जाती है तो सुख का अनुभव होने लगता है ।

क्लेश भी भावना से पैदा होता है और 'शिव-सुख' अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति भी भावना से होती है 'भावना भवनाशिनी, भावना भाववर्धिनी' । इसलिये शुद्धस्वरूप आत्मा की ही भावना करना योग्य है ।

समस्त प्राणियों में सारभूत तत्त्व क्या है? 'ज्ञानमात्र भाव' । ज्ञानी उस तत्त्व को पहिचान लेते हैं और अज्ञानी नहीं पहिचानता । जैसे किसी की गठरी में लाल बंधा हो और उसे पता नहीं हो और वह दरिद्री बना भीख ही मांगता फिरे । इसी प्रकार आत्मा में ज्ञानतत्त्व है, पर उस पर हमारी दृष्टि नहीं है और हम अपने को पर पदार्थों के आगे भिखारी और दीन बनाये हुए हैं । दृष्टि पहुँची उस ज्ञानमात्र तत्त्व पर कि हम सुखी हुए।

राग, द्वेष, मोहरहित परिणाम होना यही महान यज्ञ हैं । यही पूजा है । यही स्वाध्याय है । दिन रात भगवान् की पूजा करते हैं और भगवान् के बताये हुए एक भी उपदेश पर नहीं चलते तो क्या यह भगवान की पूजा है? अरे भाई ! मोह छोड़ा, ममता छोड़ो, राग छोड़ो, निज को निज, पर को पर जानो, यथार्थ ज्ञान करो हो कल्याण हो । यह तो करते नहीं, बातें ही मिलाते रहते हैं कि इस अभक्ष्य का त्याग किया, वह छोड़ दिया, यह छोड़ दिया । भाई ! केवल इससे ही तो काम नहीं चलेगा । मोह राग का त्याग किये बिना कर्म

निर्जरा न होगी । अरे भाई ! इन चीजों का त्याग तो राग, द्वेष, मोह, कषाय को कम करने के लिए था और कषाय कम हो तो अभक्ष्य में प्रवृति नहीं होती । इन चेष्टाओं से कल्याण थोड़े ही हो जाता है, कल्याण तो ज्ञानमात्र परिणमन ही है । राग, द्वेष, मोह, कषाय छोड़ने के लिये अपने को मुसाफिर समझो कि कितने दिन के लिये यहाँ रहना है? अपने घरवालों से भी मोह छुड़ाकर घर का वातावरण धार्मिक बनाओ । राग, द्वेष, मोह को हटाने का भाव हर एक में आ जाये ऐसा उपदेश दो । 'बाह्य पदार्थ मेरा क्या साथ देंगे' यह भाव अपने में पैदा करो और घर के और लोगों में भी पैदा करो । यह भी गृहस्थी को सुखी बनाने का उपाय है ।

(८)

'श्री सहजानंद गीता' प्रवचन

[दिनाङ्क ८-१२-१९५२]

श्लोक 3

यौवनं जरया व्याप्तं शरीरं व्याधिमन्दिरम् ।

समृत्यु जन्म कः सारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।३।।

यौवन अवस्था बुढ़ापे से व्याप्त है अर्थात् जवानी के बाद बुढ़ापा नियम से आता ही है । शरीर रोगों का घर है । जन्म, मरण से सहित है । जो जन्मा है नियम से मरेगा । मरण अच्छी चीज है क्योंकि इसके बाद अवकाश है अर्थात् जन्म हो अथवा न भी हो । जैसे रामचन्द्रजी व हनुमानजी आदि, जिनको मरण के बाद जन्म ही धारण नहीं करना पड़ा और मोक्ष में जा विराजे । इस प्रकार का मरण 'पंडित-मरण' कहलाता है । 'पंडित-मरण' 'समाधि-मरण' अथवा 'पवित्र-मरण' कहा जाता है । परन्तु जन्म को कोई भी समाधि-जन्म नहीं कहता। जन्म के समय में भी किसी के पवित्रता हुई हैं क्या? जिसमें समाधि, पवित्रता और शांति हो, जिसके द्वारा पार हों वही तो उत्सव है। अतः मरण ही उत्सव है । परन्तु संसारी लोग मरण का उत्सव नहीं मनाते और जन्म का मनाते हैं और मरण का उत्सव भी मनाते हैं तो उन बूढ़े बुढ़ियों का जिनके पोते पड़पोते हो चुके हैं अर्थात् जिन्होंने तीन-तीन चार-चार पीढ़ियों का मोह अपने अन्दर बसा रखा हैं ।

गृहस्थ धर्म भी एक धर्म ही तो है । तेजी से वीतराग परिणति में जाये वह तो मुनि धर्म और मंद-मंद गति से जाये वह गृहस्थ धर्म है । गृहस्थी को चाहे ऐसा लगता हो कि धर्म को कैसे निभायें, यह तो त्यागियों का काम है जिन्होंने घर वगैरह सब कुछ छोड़ दिया है । त्यागी कहते हैं कि भाई गृहस्थी में रहकर धर्म करें तो निर्विघ्न पूर्ण होगा और भैया ! मुझसे पूछो तो मैं भी प्रायः यही कहूंगा क्योंकि जिन्होंने घर छोड़ दिया उनका और गृहस्थियों का आज मुकाबला करके देखो तो प्रायः ऐसा ही झलकेगा कि गृहस्थियों को क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय कम है । अधिकांश त्यागी को जरासी बात कह दो झट गुस्सा आ जाता है । मान का उदय तो वहां बना ही रहता है क्योंकि वह 'त्यागी' है न? मैं यह कोई व्याप्ति नहीं बनाता, परन्तु प्रायः ऐसा देखने में आता है । गृहस्थ यदि अच्छी तरह रहे तो सब कुछ निभा सकता है । जिसके सब प्रकार की

सम्पत्ति है वह भी सब कुछ होते हुए ऐसी प्रवृत्ति बना सकता है । उसकी किसी प्रकार की भी इच्छा न रहे । अगर हम किसी से कहें कि भाई रात्रि भोजन न करने का नियम ले लो तो झट उत्तर मिलता है—अजी हमने तो सालों से रात्रि भोजन नहीं किया, परन्तु अगर नियम ले लेंगे तो आज ही रात को भूख लग आयेगी । बस यही कमजोरी है । अरे गृहस्थी में रहकर तो भावों में योग्यतानुसार बहुत ही ऊँचे दर्जे की पवित्रता आ सकती है क्योंकि वहां पर दया आदि के अनेक अवसर प्राप्त होते रहते है । व्यापार धन्धे में रात दिन संलग्न रहते हुए भी 'सत्यता' पूर्ण अंशों में निभ सकती है, केवल जरा दृढ़ रहने को आवश्यकता है । 'वैराग्य प्रकाश' में एक कथा है कि एक छोटा सा दुकानदार नदी किनारे दुकान करता था । सत्यता से व्यापार करता और बाकी का समय धर्म ध्यान में व्यतीत करता था । एक दिन एक साधु ने उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उसको ऐसी चीज प्रदान की, जिससे सोना बनाया जा सकता था । एक साल के बाद फिर वही साधु आये और जब उस दुकानदार की वही हालत देखी तो बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने कहा—'भाई मैं तो तुझे सोना बनाने वाली चीज दे गया था ।' उसने जवाब दिया—'महाराज मुझे सोने की आवश्यकता नहीं, मैं तो सत्यता के साथ व्यापार करता हूँ, सबको ठीक तौल कर सौदा देता हूँ । जो कुछ है बस यह मेरी तराजू ही है ।' साधु ने तराजू ली और जिस चीज से उस तराजू को छुआया, वही सोने की बन गई । साधु शर्मिंदा होकर चला गया । मनुष्य को सत्यता से व्यवहार करने पर जो प्राप्त हो जाये, उसी में उसको संतुष्ट रहना चाहिये । भाई ! सत्यता के बरताव पर डट तो जाओ कुछ न आवे न सही । दो चार दिन से काम नहीं चलेगा । सदा ही एक ही बात बोलो तो उसका विश्वास जरूर हो जायेगा । क्षणभंगुर जीवन में अच्छी-अच्छी बातें कहते ही रहेंगे, करेंगे कब? जब जीवन समाप्त हो जायेगा तब । इसी प्रकार गृहस्थी अचौर्य व्रत का पालन भी कर सकता है । पर के अधिकार की चीजों को हड़प न करें, टैक्स वगैरह की चोरी न करें । व्यसन में तो परकीय चोरी का त्याग कराया गया है, परन्तु अणुव्रतों में तो अतिचार भी नहीं लगने चाहियें । जैसे ब्रह्मचर्य व्रत में सब स्त्रियों का त्याग हो जाता है । यही नहीं अपनी स्त्री के प्रति भी बुरे विचार हृदय में नहीं आते । परिग्रह परिमाण व्रत में संतोष रहता है । पांचों पापों का त्याग करने से गृहस्थी में सुख होता है । इनके त्याग के बिना गुजारा नहीं । जीवन में दृढ़ता करके देखो और दृढ़ता जब हो सकती है जब हर समय यह ध्यान रहे कि मृत्यु ने तो हमें केशों से पकड़ रखा है, किसी भी समय मृत्यु आ सकती है । जितना जीवन मिला है, पांचों पापों की निवृत्ति करता हुआ व्यतीत करें । यहाँ भी सुख होगा और परलोक में भी ।

निर्मोही गृहस्थ भी मोक्ष मार्ग में स्थित है और मोही मुनि भी मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है । अगर गृहस्थ के भाव ठीक हो जायें तो आज त्यागी से कम नहीं । निम्न पद में रहकर अगर परिणामों में पवित्रता आ जावे तो वह उचित फलीभूत हो जाती है । इसके विपरीत अगर उच्च पद में रहकर निम्न बात, निम्न आचरण करता रहे तो उसका विकास नहीं होता । गृहस्थ तो अपना वह आदर्श बना सकता है कि इस भव में भी सुखी रहे और परभव में भी ।

विषयभोग और इन्द्रिय सुख कैसे हैं? विष को पीकर चाहे कोई भले ही जिन्दा रह जाये, परन्तु विषयभोग

भोगकर जीवित नहीं रह सकता । अगर खाने का आनन्द लेना चाहता है तो खाने का त्याग करना ही पड़ेगा । यदि खाते ही खाते रहें तो एक समय ऐसा आयेगा कि बीमार पड़ जायेंगे और खाना छोड़ना ही पड़ेगा । इसी तरह यदि बढ़िया से बढ़िया इत्र को सूँघते ही रहें तो उससे भी अरुचि हो जायेगी । बढ़िया से बढ़िया दृश्य देखते रहने पर आँखों को बन्द करने की इच्छा हो ही जाती है । सुन्दर से सुन्दर गाने को भी एक दो बार से अधिक सुनने को जी नहीं चाहता । इस प्रकार जब इन्द्रियों के विषयों का आनन्द लेने के लिए उनके त्याग की आवश्यकता है तब आत्मिक आनन्द के लिए तो इनके त्याग की आवश्यकता है ही । व्यापार में भी जिसका चित्त बढ़ा हुआ है अर्थात् जो रिस्क लेना चाहता है, वही लाभ उठा सकता है । इसी प्रकार यहाँ भी जो विषयों के त्याग में अपना हृदय दृढ़ रखते हैं उनको आत्मिक आनन्द अवश्य प्राप्त होगा । जब त्याग करने पर अद्भुत आनन्द प्राप्त हो जाता है तो मैं भी विषयों से निवृत्त होकर अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ । एक अचरज तो देखो भाई ! यमराज के तो समता हो गई क्योंकि चाहें बाल हो, युवा हो, किंवा वृद्ध हो यह समभाव से सबको ले लेता है हड़प लेता है (लोगों में ऐसी लोकोक्ति है कि मृत्यु के समय यमराज पकड़ कर ले जाते हैं) । परन्तु समता का पज जो 'मैं' हूँ मेरे समता न होवे, यह आश्चर्य की बात है ।

असंतोष ही दरिद्रता है । अगर गृहस्थ के असंतोष तृष्णा न हो तो वह आदर्श बन जायें । भरत चक्रवर्ती घर में रहते हुए भी उदास थे लिप्त न थे, तभी तो उनकी आज तक प्रशंसा है । इसी तरह जो मनुष्य घर में रहता हुआ भी उदास रहे, पुण्य के उदय से प्राप्त धन, वैभव, स्त्री पुत्रादि में मूर्च्छा न करे तो उसका दर्जा इतना ऊँचा है कि उसको देखकर तो बहुत से जीव सुधर जायें । अगर समाज में बड़े कहलाने वाले लोग प्रैक्टिकल व्यवहारिक हो जायें तो उनकी देखा-देखी और भी बहुत से लोग त्यागी हो जायें ।

रागद्वेष के माने संसार है । आपको अपने से यह प्रश्न करना चाहिये कि संसार में आप बस रहे हैं या संसार को आपने अपने में बसा रखा है? लोग कहते हैं यह जो क्षेत्र दिखता है यह दुनिया है । दुनिया का अर्थ है दो नय । अर्थात् तरकीब से चले । क्षेत्र का नाम संसार नहीं है । संसार तो राग द्वेष है । यह रागद्वेष का संसार दुख से भरा है । संसार में रहने से हानि नहीं । और बताओ भैया संसार से बाहर जायें भी कहां? सिद्ध भी तो जहाँ तक है वहीं तक जाते हैं । अरहंत भी तो इसी संसार में रहते हैं । परन्तु परेशानी तो यह है कि हमने अपने में संसार बसा रखा है । अपनी करतूत से अरुचि नहीं तभी तो संसार में भटक रह हैं और यही बात तो दूसरों से कह लेते परन्तु अपने से नहीं कहते । जो मैं करता हूँ यह भी मेरा स्वभाव नहीं है अर्थात् अपनी करतूत से अरुचि हो जायें बस यही तो करना और कुछ नहीं । बस जितने भी हम विकल्प परपदार्थों में करते रहते हैं उनसे अरुचि हो जायें और जो मेरा ज्ञानानंदमय स्वभाव है वह प्रकट हो जाये । दुनियां कुछ कहे, मेरे एक ज्ञायकभाव की सिद्धि हो जावे, चैतन्यस्वभाव पर रुचि हो जावे । जिसके ऐसा हो जाये वह प्रशंसनीय है । राग द्वेष से पैदा होने वाली पर्याय का नाम लोगों ने संसार रख दिया ।

दुनियाँ में कौनसी चीज अपवित्र है? कौवे की बीट को लोग अपवित्र कहते हैं, परन्तु सोचो तो उसको अपवित्र बनाया किसने? रागीद्वेषी । हाड़, माँस, खून क्या अपवित्र हैं? अरे भाई ! वे तो शुद्ध परमाणु थे, परन्तु जब उनका संसर्ग इस रागद्वेषी आत्मा से हुआ वे अपवित्र बन गये । लोक में ऐसा होता है जो छूने लायक न हो उसे जो छू ले वह अशुद्ध हो जाता है जिसको छूने से यह हाड़, माँस आदि अपवित्र हुए उसे पकड़ते नहीं । रागद्वेष से अरुचि पैदा होना चाहिये । जिसने मुझे भ्रमा रखा है, दुःखी कर रखा है, उससे अरुचि पैदा हो जाये ऐसी भावना रखे । अपनी सांसारिक करतूत अपने को न सुहावे । मुनियों को तो देखो वह तो धर्म ध्यान ही करते रहते हैं । पर वहाँ भी यही चलता है कि उनको अपनी करतूत नहीं सुहाती । योगी कहता है कि जो भी मैंने किया वह अज्ञानमय चेष्टा थी । वह चाहे ध्यान करें, पूजा करें, आलोचना करें, प्रतिक्रमण करें, परन्तु सोचते हैं कि यह सब मेरी अज्ञानमय चेष्टा ही तो है । परन्तु इसके विपरीत हम हैं कि क्रोध करते हुए भी अपनी गलती नहीं मानते और सोचते हैं कि उसने क्रोध दिलाया, इसने दिलाया । जिस समय हमने धन कमाया अपने हाथ पर रखा उस समय यह अटपटा सा लगने लगे कि हम क्या कर रहे हैं, ऐसे भाव होने चाहियें । रागद्वेष संसार है । इस दिखने वाले संसार का मूल कारण जो संसार रागद्वेष है उसका त्याग करके अपने में अपने द्वारा अपने लिये, स्वयं सुखी होऊँ ।

ऐसी कोई योनि, देश, कुल नहीं जिसे राग के आधीन होकर न पाया हो । अभव्य या द्रव्यलिंगी मुनि भी इतनी बार द्रव्यलिंगी बना रह सकता है कि अगर उन पर्यायों में होने वाले उस मुनि के यदि एक-एक कमंडल को एकत्रित किया जाये तो मेरु पर्वत जैसा ढेर लग जाये । मैं कितनी बार राजा महाराजा धनपति कुबेर हुआ इसकी कोई गिनती नहीं । हम उसकी बात नहीं कहते जो अभी ही कुछ समय से निगोद से निकला हो । सोचो कि अब मैं इस थोड़ी सी चीज में जो-जो मुझे प्राप्त हुई है क्या राग करूँ? इसलिये अब तो यही अच्छा है कि राग छोड़कर अपने में, अपने द्वारा, अपने लिये, स्वयं सुखी होऊं ।

यहाँ तो जुए जैसी बाजी है । यदि जुए में कोई हार भी जाये तो लोग कहने लगते हैं 'अजी बस हो लिये इतना ही दम था' इत्यादि और उसे वहां से उठने ही नहीं देते । इसी प्रकार यहाँ पर भी यदि कोई धर्म साधन करना चाहता है तो लोग उसे भगत जी कर चिढ़ाने लगते हैं और वह है कि चट से फिसल पड़ता है । अरे भाई ! यदि आत्मकल्याण करना है तो तेज हृदय का बनना होगा । यही दृढ़ता आनी चाहिये कि चाहे संसार मुझे कुछ भी कहे तो भी अपने ही को देखना है । मेरा काम तो मेरे से ही पूरा पड़ेगा । इतनी दृढ़ता आने पर ही धर्म का पात्र होता है और अगर लोगों के कहने से फिसल जावे और फिर तृष्णा में फंस जावे तो धर्म उससे बहुत दूर हो जाता है । जो स्थिति इस समय हमारी है, अगर हमें उसी में संतोष नहीं तो भविष्य में होने वाली स्थिति में तो संतोष होना असम्भव ही है ।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह में तो भैया दुःख ही दुःख है ।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है—'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य' अर्थात् अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह से मनुष्य

आयु का बंध होता है और 'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकास्यायुष' अर्थात् बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह से नरक आयु का बंध होता है ।

'माया तैर्यग्योनस्य' अर्थात् मायाचार तिर्यंच आयु बंधने में कारण है और 'सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य' अर्थात् सराग-संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बालतप, देव आयु का बंध करते है ।

सम्यग्दर्शन रहते अगर किसी आयु का बंध होता है तो देवायु का ही होता है । सम्यग्दर्शन रहते अगर किसी नारकी के आयुबंध होता है तो मनुष्यायु का ही—सम्यग्दर्शन होते अगर देवबंध करेगा तो मनुष्यायु का ही—और सम्यग्दर्शन रहते तिर्यंच को देवायु का ही बंध होता है ।

ऐसे सम्यग्दर्शन को पाये बिना इतनी जगह घूम आये कि कोई भी देश ऐसा नहीं बचा जिस पर अनंत बार जन्म न हुआ हो । फिर....भाई ! मनुष्यभव पाया है तो इसकी शोभा धर्म से ही है ।

गृहस्थी में रहते हुए भी धर्म का ख्याल ही अधिक रखना । सदा यही विचार करना कि मेरे से कोई पाप न बन पाये । मेरा जीवन आदर्श और सात्विक हो ।

(९)

''श्री समयसार'' प्रवचन

[दिनाङ्क ११-१२-१९५२]

जो वस्तु के स्वभाव पर दृष्टि रखता है वह मोहित नहीं होता, क्लेशित नहीं होता । जो संयोग पर दृष्टि रखता है कि इस वस्तु ने इस वस्तु का ऐसा कर दिया, बसा कर दिया वह मोहित होता है, दुःखी होता है । हर एक पदार्थ अपने आप सत् है, अपने में सत् है, दूसरे के लिए असत्, दूसरे में असत् है अर्थात् हर पदार्थ का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न्यारा न्यारा है । सब ओर दृष्टि करके देखो तो ऐसा मालूम होता है कि एक द्रव्य दूसरे में एकमएक हो रहा है, घुलमिल रहा है, सब गड़बड़ हो रहा है, परन्तु जरा गहरी दृष्टि से देखो तो समझ में आ जायेगा कि देखने में अभिन्न होते हुए भी एक द्रव्य का स्वरूप दूसरे में प्रवेश नहीं करता । एक अंश भी एक द्रव्य का स्वरूप दूसरे में प्रवेश नहीं करता । एक अंश भी एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य रूप नहीं परिणमता । जब हम दूध और पानी को मिलाते हैं तो कहने लगते हैं कि देखो तो पानी की एक-एक बूँद दूध में समा गई । परन्तु भैया! जरा उस दूध को अग्नि पर तो रखो । जितना अंश पानी का है सब जल जायेगा और केवल दूध-दूध शेष रह जायेगा । अगर दूध और पानी एकमेक हो गये होते तो वह अलग नहीं हो सकते थे । इसी तरह ऐसा दिखता है कि यह आत्मा, शरीर ओर कर्म बिल्कुल एक हो रहे हैं, फिर भी एक आत्मा का दूसरों में अर्थात् शरीर और कर्म में प्रवेश नहीं और न शरीर और कर्म का एक भी परमाणु आत्मा में प्रवेश करता है । यहाँ की तो बात छोड़ो सिद्धलोक में अनन्त आत्माएँ विराजमान हैं और सबकी परिणति एक सी है अर्थात् सभी अनन्त ज्ञानी, सुखी, अनन्त दर्शन वाले और अनन्त शक्तिशाली हैं । स्वभाव में किसी के किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है, परन्तु फिर भी सब अपने-अपने स्वरूप से जान रहे हैं । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के चतुष्टय से नहीं परिणमता । ऐसी वस्तु स्थिति है । यद्यपि समस्त द्रव्य बाह्य में लोट रहे हैं,

परन्तु किसके अन्दर कौन प्रवेश कर सकता है? सब ही वस्तु अपने-अपने स्वभाव में नियत हैं । चाहे गहरी मित्रता भी हो । परन्तु एक मित्रता का ज्ञान, सुख दूसरे में नहीं चला जाता और दूसरे का ज्ञान, सुख पहिले में नहीं आ जाता । इस तरह से देखा जाये तो जगत् में किसी से मित्रता हो ही नहीं सकती । यह तो झूठा विकल्प है । इसी प्रकार किसी से शत्रुता भी नहीं हो सकती । एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, फिर शत्रु मित्र काहे का?

जहाँ सुधार बिगाड़ की दृष्टि आई कि इसने मेरा यह सुधार कर दिया, इसने मेरा यह नुकसान कर दिया, बस वहाँ दु:ख ही दु:ख है । सारी बात जुदी-जुदी हैं । हर पदार्थ का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग-अलग है, फिर भी सम्बन्ध मान कर दु:खी हो रहे हैं । कितने खेद की बात है कि अनन्त शक्तिवाला यह आत्मा व्यर्थ के टुकड़ों में लोभ कर रहा है और बस यही तो संसार है ।

जिन्होंने प्रज्ञारूपी छैनी द्वारा इस बुद्धि को हटा दिया है, लोक में चाहे उनका आदर हो न हो, कोई उसे कुछ समझो न समझो पर, ऐसा भेदविज्ञानी जीव यदि अपने ही में रत है, सन्तुष्ट है, तो सुखी है ।

समस्त वस्तु अपने स्वभाव में नियत है, फिर स्वभाव से च्युत होकर बुद्धि को व्याकुल करके पर पदार्थों में मोही बनकर दु:खी क्यों हो रहे हैं? जो होता है होने दो । जिस रूप जो पदार्थ परिणमता है परिणमने दो । मोही बनकर क्लेश को प्राप्त मत होवो । एक किसान था और उसकी स्त्री थी । किसान सदैव इस फिकर में रहता था कि स्त्री कुछ बात कहे और मैं उसे दो चपत लगा दूं । पर स्त्री थी बहुत चतुर और शान्त । एक दिन किसान खेत पर गया और हल में एक बैल पूर्व की व दूसरा पश्चिम की ओर मुँह करके हल के जुए में जोत दिया ताकि जब स्त्री रोटी लेकर आयेगी तो अवश्य कुछ न कुछ कहेगी और बस मैं दो चपत लगा ही दूंगा । स्त्री आई और बड़े शांत भाव से बोली चाहे तुम उल्टा जोतो चाहे सीधा, मुझे क्या मतलब? मेरा तो रोटी देने का काम है । सो मेरा काम पूरा हुआ लो मैं जाती हूँ । यह सुनकर किसान बेचारा क्या करता ? सो भाई ! पर पदार्थ चाहे इस रूप परिणमों चाहे उस रूप, मैं तो सदा अपनी आत्मा में ही रत हूँ—यही प्रयत्न करना चाहिये ।

एक वस्तु दूसरी वस्तु की कुछ नहीं है । क्यों? क्योंकि वस्तु है, उसका स्वभाव ही ऐसा है । जब यह निश्चित है तब एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ क्या करता है? कुछ नहीं । एक लड़का अपनी उंगली दूसरों को मटकाता है और बीस हाथ दूर खड़ा लड़का चिढ़ जाता है । क्या यहाँ वाले लड़के ने वहाँ वाले लड़के में कुछ कर दिया? नहीं । यहाँ वाला लड़का अपनी चेष्टा अपने ही में करता है और वहां वाला लड़का अपनी चेष्टा से ही चिढ़ जाता है, परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कुछ ऐसा है जिससे व्यवहार में ऐसा कह देते है कि इसने उसको चिढ़ाया । केवल व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि अमुक वस्तु ने अमुक पदार्थ का ऐसा किया, परन्तु अपना परिणमन आप होता है । दूसरा तो निमित्तमात्र होता है । लैम्प के उजाले को देखकर लोग कहते हैं कि यह लैम्प का उजाला है । परन्तु भैया ! जरा विचारो लैम्प तो केवल यह दो अंगुल की दिखने वाली इसकी लौ ही होती है । जो लैम्प का गुण है वह तो केवल उतनी ही जगह में है, फिर उससे

बाहर उसका गुण कैसे जा सकता है? यह जो पुस्तक ऊपर रोशनी है, यह तो पुस्तक की है लैम्प की नहीं । पुस्तक के परमाणु रोशनी रूप परिणम गये । परन्तु हाँ, लैम्प निमित्त कारण अवश्य है । अगर लैम्प निमित्त न होता तो इस पुस्तक का परिणमन भी इस रूप न होता । जब होता था तो होता क्यों न, यह दूसरी बात है ।

जिस पदार्थ में जितनी शक्ति होती है उसी रूप वह परिणमन करता है । जैसे दर्पण लैम्प का निमित्त पाकर अधिक चमकता है । पुस्तक इतना नहीं । लोग कहते हैं कि भगवान् सबको जानते हैं । सबको क्या जानते हैं? वे तो केवल अपने को ही जानते है । मैं भी अपने को ही जानता हूँ । व्यवहार में ऐसा कह देतें हैं कि इनको जाना उनको जाना । मेरा तो ज्ञान गुण है उसका परिणमन तो मेरे में ही होता है । 'पर' मैं कैसे हो सकता है? आप सुनते हैं तो अपनी चेष्टा से और मैं बोलता हूं तो अपनी चेष्टा से । परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कुछ ऐसा है कि अगर आप यहां न हों तो मैं इस रूप न बोलूँ और अगर मैं न बोलूं तो आप इस प्रकार से न सुनें । समवशरण में भगवान के दर्शन हुए, दिव्य ध्वनि में उपदेश सुना उनके कारण सम्यग्दर्शन हुआ यह बात नहीं । अगर ऐसी बात होती तो जितने भी वहाँ बैठे हैं सबको सम्यग्दर्शन हो ही जाना चाहिये । परन्तु जिसको सम्यग्दर्शन हुआ वह उसी के परिणमन से हुआ । भगवान के दर्शन व दिव्य ध्वनि तो उनमें निमित्तमात्र है । कोई वस्तु अन्य वस्तु का कुछ करता है, इस प्रकार का कहना व्यवहार है, निश्चय से उस वस्तु का काम उसी वस्तु में होता है । दूसरें से सम्बन्ध जोड़ना ही व्यवहार है । मान लो इस चौकी पर लाल रंग की हल्की-हल्की पालिश की जाये तो बताओ क्या पालिश ने पालिश को लाल किया या चौकी को? सहज ही समझ में आ जाता है कि पालिश ने चौकी को लाल नहीं किया अपने को ही लाल किया । परन्तु चौकी तो निमित्त है । अगर ऐसा न हो तो आकाश में तो पालिश फैलाकर देखो क्या लाल हो जायेगा? नहीं । अंत: सिद्ध हुआ कि चौकी-चौकी ही में व पालिश-पालिश में ही परिणम रही है । फिर आप पूछेंगे तो पालिश किसकी है? उत्तर मिलेगा । चौकी की । नहीं भाई, पालिश तो पालिश की है ।

एक वस्तु दूसरी वस्तु से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती है । केवल सत् को देखो । १३वें गुणस्थान में शरीर रहता है, परन्तु अरहंत का शरीर-सम्बन्ध नहीं । जहाँ सम्बन्ध माना, वहीं दु:ख है । दु:ख दूर करने के लिये लोग लाखों करोड़ों रुपया कमाते हैं, परन्तु एक वस्तु का दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं । इस प्रकार की श्रद्धा अपने मन में नहीं करते जो कि दु:ख के नाश का एकमात्र उपाय है । सम्बन्ध की ममता छूटेगी तो शांति होगी ही । व्यवहार में भी देखो जब किसी का कोई मिलने वाला मर जाता है तो उससे ऐसी ही ऐसी बात कहते हैं कि भाई जो आया है अवश्य मरेगा, दो दिन सबको यहाँ जीना है, अन्त में मरना है इत्यादि । अर्थात् ऐसी ही बातें कह-कह उसे संतुष्ट करते है जिससे उसका राग उसके प्रति कम हो जाये, भेदविज्ञान की बात कहने से ही शांति होती है उसे । किसी को ५०००००) का टोटा पड़ जाये तो उसे ऐसा ही समझाते हैं कि भाई तेरा क्या गया? ऐसा सोचे कि मानों तेरे पास वह रुपये थे ही नहीं इत्यादि । सम्बन्ध के निषेध के बिना शांति का उपाय नहीं है । परतन्त्रता की बेड़ी को तोड़ो । मैं मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हैं—यह अनुभव न

करो । मैं तो एक, शुद्ध, निर्विकल्प, ज्योतिर्मय, कर्म, कलंक से रहित हूँ, इस प्रकार का ही विचार करो । पर को अपना मान रहे हैं, बस इसी कल्पना से दु:खी हो रहे हैं ।

शुद्ध द्रव्य के निरूपण करने में जिन्होंने बुद्धि लगाई है उन्होंने यही पाया है कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में कुछ भी नहीं है । ज्ञान अपनी जगह स्थित है, ज्ञेय अपनी जगह स्थित है । आंख और इस लैम्प को ही ले लो । न आंख लैम्प को करती है, न भोगती है । वह तो केवल जानती है । जानती भी नहीं है जानने में भी केवल निमित्तमात्र है । अगर आँख इस लैम्प का कुछ करती होती तो जरा आँख को जोर से फाड़ने पर लैम्प की रोशनी भी बढ़ जानी चाहिये थी और अगर आँख लैम्प को भोगने वाली होती तो लैम्प की गर्मी आँख में प्रवेश कर जानी चाहिये थी और आंख भस्म हो जानी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नहीं है । इसी प्रकार ज्ञान न तो ज्ञेय को कुछ करता हे और न भोगता ही है । बाह्य पदार्थ में आप कुछ नहीं कर सकते, केवल अपने ज्ञान में ही कर सकते हैं । फिर क्यों तत्त्व से च्युत होते हो ?

ये विषय-भोग बड़े सरल मिल रहे हैं, पर भैया ! बड़े महंगे पड़ेंगे । 'अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाली कथा सबको विदित ही है । बड़ी सस्ती भाजी व खाजा खा खाकर शिष्य बड़ा मोटा ताजा हो गया, परन्तु अन्त में वह इतने महंगे पड़े कि उसे फांसी के तख्ते पर लटकने की नौबत आ गई । इसी प्रकार यहाँ जो सुलभ वस्तु मिल रही है वह हम आनन्द हो होकर खुब भोग रहे है, परन्तु याद रखो कि अपने ये विकल्प ही बहुत महंगे पड़ेंगे । न जाने नर्क में जाना पड़े या निगोद में जहाँ के दु:खों को याद करके भी हृदय फट पड़ता है । जो हर वस्तु को स्वतन्त्र देखता है, समझता है कि किसी पदार्थ का किसी पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह पर पदार्थों में मोहित नहीं होता और दु:खी भी नहीं होता ।

(१०)

''श्री सहजानन्द गीता'' प्रवचन

[दिनाङ्क १४-१२-१९५२]

श्लोक 5-1

यदाप्नोति सुखं स्वस्थो न तल्लेशं प्रतिष्ठित: ।

स्वास्थ्ये शं, न हि रागेऽत: स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।५।।१।।

'स्व' याने आत्मा में जो स्थित होवे वह स्वस्थ कहलाता है । अगर कोई स्वस्थ शब्द न कहकर उसके अर्थ रूप व्यवहार में ऐसा पूछने लगे कि अपनी आत्मा में स्थित हो या नहीं तो यह प्रश्न व उसका उत्तर कुछ अटपटासा मालूम देगा।

स्वस्थ पुरुष—आत्मा में रहने वाला पुरुष, जिस सुख को प्राप्त करता है उसका लेश भी लोक में कहलाने वाला प्रतिष्ठित पुरुष नहीं प्राप्त कर सकता । स्वस्थ न रहने की जड़ है इच्छा । और भैया ! शारीरिक स्वास्थ्य के बिगड़ने का कारण भी इच्छा ही तो है । इच्छा बढ़िया-बढ़िया पदार्थों के खाने की हुई और खाते

ही चले गये । फल यह हुआ कि बीमार पड़ गये। जितने भी रोग होते हैं सबकी मूल है इच्छा। इच्छा से चिन्ता उत्पन्न होती है और जहां चिन्ता हुई क्लेश अनिवार्य है । चिता से भी बुरी चिन्ता को बताया गया है। चिता तो मुर्दे को ही जलाती है और चिन्ता जिन्दे को ही जला देती है। शल्य से अथवा चिन्ता से आत्मा में घुन लग जाता है । एक बहुत ही मोटे आदमी थे। इतने मोटे कि उठते बैठते भी नहीं बनता था । एक वैद्यजी उनके इलाज करने के लिये आये । सब कुछ देखने के बाद उन्होंने कहा—'सेठजी आप तो ६ महीने में मर जायेंगे'। सेठजी तो चिन्तातुर रहने लगे और इसी चिन्ता में इतने सूख गये कि जो अधिक मोटापा था वह कम हो गया और सब काम ठीक प्रकार से करने लगे । ६ माह बाद वैद्य ने बताया, सेठजी आप अब मरोगे नहीं । पहले जो मैंने कहा था वह तो इलाज था केवल । सो भैया ! चिन्ता तो ऐसी है कि शारीरिक स्वास्थ्य बिगाड़ देवे । अगर कोई मंगल है तो एक नैराश्यपना ही है यानी इच्छा का न रहना । यही सुख का कारण है । आशा न रहे यही स्वास्थ्य है । इच्छा बड़ा रोग है । अपनी महत्ता को, अपने बड़प्पन को भूलकर, दूसरे में यानी पर पदार्थों में आशा लगा रखी है अत: दु:खी है । अरे ! एक बार अपनी महत्ता को तो देख । तू तो ज्ञानानन्दमय, ज्योतिर्मय, स्वतन्त्र है । अपने स्वभाव को तो देख, तू तो अनन्तज्ञानी, सुखी व शक्तिशाली है । क्यों ऐसा अध्यवसान बना रखा है कि मैं निर्धन हूँ, गरीब हूँ, दु:खी हूँ आदि । अपने स्वभाव की ओर ढला हुआ स्वरूप ही तेरा शरण है । जब बाह्य पदार्थों से रुचि हट जाती है और उपयोग केवल ज्ञान ही में रह जाता है वही आनन्द की दशा है, वही असली स्वास्थ्य है ।

स्वास्थ्य तो आकिञ्चन्य भाव से पैदा होता है । मेरा जगत् में कुछ नहीं है । मेरा तो बस मैं ही हूँ । मैं अधूरा नहीं । मैं तो पूर्ण, ज्ञानानन्दमय, अखंड, अविनाशी हूँ । अगर मैं आधा होता अथवा अपूर्ण होता तो पूर्ण बनने के लिए जगत् में कुछ ढूंढ़ता, परन्तु मैं तो पूर्ण हूँ अत: मुझे जगत् में कुछ भी नहीं ढूंढना है । किसी को अपना मानोगे तो कुछ भी प्राप्त नहीं होगा । किसी को अपना कुछ न मानो तो अपनी निधि जो स्वयं में ही विद्यमान है उसका अवलोकन हाता है । किसी से कुछ नहीं चाहना—यही सुखसागर में मग्न होना है । एक हज्जाम सेठजी की हजामत बना रहा था तो सेठजी ने कहा भई, हम इसके बदले तुझे कुछ दे देंगे । जब हजामत बना चुका तो सेठजी ने उसे चार आना दिये, परंतु उसने कहा—सेठजी मुझे तो 'कुछ' ही चाहिए । यहाँ तक कि उसने १०), २०), १००), २००) भी लेने से इन्कार कर दिया और वह कुछ ही माँगता रहा । इतने में सेठजी को भूख लगी और उन्होंने हज्जाम से कहा कि भाई सामने गिलास में दूध रखा है उसे ले आ । ज्यों ही गिलास उठाया तो वह बोला सेठजी इसमें तो कुछ पड़ा है, सेठजी बोले, वह 'कुछ' तू लें ले । उस दूध में पड़ा था कोयला । तो हज्जाम को केवल कोयला मिला । सौ भैया ! जो कुछ चाहेगा उसे कोयला मिलेगा । जगत् में कुछ चाहेगा तो उसे कुछ नहीं मिलेगा । भीतर में स्वरूप पर दृष्टि डालो तो मेरा कुछ नहीं, ऐसा पता चलेगा ।

मोहीजन दूसरों को बचाने का प्रयत्न करते हैं । जब कोई मरने के निकट होता है तो घर के लोग भरसक प्रयत्न करते हैं । कि यह बच जाये, परन्तु सब व्यर्थ । जैसा है वैसा समझ लो यही सुख है । बड़ा सस्ता

सौदा है सुखी होने का । इसके विपरीत जो पर पदार्थों में सुख ढूंढ़ते हैं वह तो बड़ी टेढ़ी खीर है । पराधीन सुख बड़ा महंगा है । आत्मिक सुख स्वाधीन सुख है । जब दृष्टि डालो तभी मिल जाता है । आज मिष्ठान्न खाने को तबीयत हुई, देखो कितने खटपट करने पड़ते हैं, आग जलाओ, चीनी लाओ, मावा लाओ आदि और सब कुछ बना लिया और उसमें पड़ गयी मक्खी, लो भाई सब बेकार हो गया । यह तो रही पराधीन सुख की बात । और स्वाधीन सुख के लिये जरा भीतर दृष्टि की और सुख हो गया । कितना स्वतन्त्र है यह सुख । हम मोह में अंधे हो रहे हैं, इसलिए हमें बड़ा महंगा दिखलायी पड़ता है परन्तु भाई ! स्वाध्याय के बिना शान्ति नहीं और स्वास्थ्य मिलेगा केवल आकिञ्नभाव से ।

जिस समय जो भी करने में आवे वह भी स्वयं मेरे द्वारा नहीं किया गया क्योंकि मैं तो केवल ज्ञप्तिमात्र हूं—इस प्रकार का विचार करे । रोग आया है मेरे बस की चीज नहीं, विपत्ति आती है मैं क्या कर सकता हूं, बुढ़ापा आता है, मेरे हाथ की चीज नहीं कि न आने दूं, धन नष्ट होता है उसमें मैं क्या कर सकता हूं, धन रहता है या नहीं मेरे बस की बात नहीं । यह सब मेरे द्वारा नहीं किया जाता, मेरे द्वारा तो मैं ही किया जाता हूं । अत: मैं अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

शास्त्रों को पढ़कर भी सबको भूले बिना स्वास्थ्य प्राप्त नही होता । शास्त्र पढ़ने के बाद विकल्प उठते हैं, तर्क उठते हैं, विचार पैदा होते हैं । उनके समाप्त हुए बिना स्वास्थ्य यानी आत्मा में स्थिति नहीं होती । आप कहोगे फिर तो देहाती ही अच्छे है । क्या लाभ है कि पहले तो शास्त्रों का अध्ययन करें, विकल्प पैदा करें, फिर उन विकल्पों को समाप्त करें । नहीं भाई, ऐसी बात नहीं है । जिज्ञासा उसे ऐसा करने के लिए विवश करती है और विकल्प दूर करने का उपाय भी तो यह ही है । पहले शास्त्राध्ययन करो, फिर जो विकल्प उठे, जो विचार उठें तो उनके द्वारा पहली अवस्था में उठने वाले विकल्पों को समाप्त करो और साथ ही इन विकल्पों की भी होली कर दो—यही तो मार्ग है । इसके बाद जो निर्विकल्पता आती है वही तो स्वास्थ्य है । जब सबको भूले बिना स्वास्थ्य होता ही नहीं तो मैं सबको छोड़कर अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी क्यों न होऊँ?

ज्ञानी अपने स्वतन्त्रपने पर दृष्टि डालता है, उसका सब दु:ख दूर हो जाते हैं । जिसका उपयोग आत्मा में इतना स्थिर हो जाता है कि आंख बन्द करने और खोलने में जो परिश्रम होता है—वह बेकार है यह समझकर शरीर की क्रियाओं से निवृत्त हो जाता है अर्थात् कोई भी क्रिया, नहीं करता, वही स्वस्थ है । ऐसा ही पुरुष सुखी होता है ।

साक्षात् परमात्मा भी उपदेश देवें फिर भी स्वास्थ्य के बिना निर्मलता नहीं आ सकती; कल्याण नहीं हो सकता । पराधीन सुख में रहता हुआ भी नारकी के समान है और स्वाधीन दु:ख भी विवेक में स्वर्ग-सुख-तुल्य है । ज्ञानी अपनी ही परिणति से दु:ख को दूर करके सुखी होता है । उसको अगर परमात्मा भी यह कहे कि मैं तुम्हें मोक्ष ले जाऊंगा तो वह उसे भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वहाँ भी तो उसे उस परमात्मा का अहसान मानना पड़ेगा । ऐसे अहसान को वह नहीं चाहता वह किसी का अहसान किसी की आशा पसन्द

नहीं करता । जिसने परमात्मा के स्वरूप को जान लिया वह परमात्मा से चाहे क्या? कोई वृक्ष के नीचे बैठा हो और वृक्ष से प्रार्थना करे तो उसकी मूर्खता ही है । इसी प्रकार परमात्मा की भक्ति करे और कुछ चाहे तो उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है? उसने तो परमात्मा को बाह्य में कल्पित किया अपने में तो नहीं किया । यह तो जैसे किसी राजा से कुछ मांगना हुआ ऐसे ही परमात्मा से । भैया ! मोक्ष तो अपनी आत्मा में बसे हुए परमात्मा की ही कृपा से प्राप्त होगा । बिना 'स्व' स्थिति (स्वास्थ्य) के किसी को सुख प्राप्त नहीं होता । आत्मा अपने सुख दुःख के लिए स्वयं जिम्मेदार है । इसलिए मैं अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

यह विश्व सुख के अंश का भी मूल नहीं । ये सारे पदार्थ जुड़कर मिलकर भी सुख देना चाहें तो इनमें शक्ति नहीं कि मुझे सुखी कर सकें । सुख तो ज्ञान और त्याग का फल है । इसलिए मैं अपने में रमण करूँ, अपने में तुष्ट होऊँ, अपने में सुखी होऊँ ।

अद्वैत पर दृष्टि होनी चाहिये, दो पर नहीं । व्यवहार में भी तो देखो किसी के यदि एक ही लड़का हो तो उसे कोई चिन्ता नहीं, न बंटवारे की चिन्ता, न लड़ाई झगड़े की । और यदि दो-चार लड़के हों उनको धन बांटों, सम्पत्ति बांटों आदि बहुत सी चिन्तायें करनी पड़ती हैं । और भैया ! अगर कोई इकला ही हो तो उसको तो किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती । जितना कम सम्बन्ध होगा उतनी ही कम चिन्ता होगी । सब कुछ होते हुए भी, परिवार होते हुए भी अपने को अकेला तो सोच सकता है । यह तो न सोचो कि हम सब इतने हैं । गृहस्थी में कमल सरीखे रहें । कमल जल से ही पैदा होता है । जल में ही रहता है, फिर भी जल से भिन्न रहता है । इसी प्रकार हम भी तो रहे । सब कुछ रहते हुए भी भिन्न रहें । ऐसी दृष्टि आवे हमेशा यह ख्याल रहे मैं तो अकिंचन हूं अद्वैत आत्मा में ही दृष्टि हो । एकाकीपन में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं । लोगों में ऐसी बात प्रचलित है—'एकोऽहं बहु स्वाम्' ब्रह्मा पहले एक था फिर बाद में उसने अनेक रूप बनाये । इसी प्रकार हमारा यह आत्मा ब्रह्मा जब अपने को एक, अखंड, अनादि सोचता है तो एक रहता है और जब अपने को नारकी हूँ, पुरुष हूँ, देव हूँ इस प्रकार विचार करता है तो बहुत रूप बन जाते हैं । 'मैं अनेक रूप हूं' इस प्रकार का विचार आया कि इतनी बड़ी सृष्टि की रचना हो गई । जब दस बीस बुढ़िया इकट्ठी होकर तीर्थयात्रा को जाती हैं तो आपस में ऐसा कह लेती हैं कि अपनी-अपनी पोटली की देखभाल आप करना । ऐसा करने से उनकी पोटली सुरक्षित रह जाती है । इसी तरह हम अपनी ही अपनी सृष्टि की रचना करते रहें तो अव्यवस्था नहीं होगी । यदि कोई दूसरा हम लोगों की सृष्टि रचना करें तो अनेकों तो भूल में परिणमन बिना ही रह जाये ।

अपने ही भावों से अपना कुछ होता है । दो भाई थे । एक तो पूजा के लिए मन्दिर में गया और दूसरा लकड़ी काटने के लिए जंगल में गया । पूजा करने वाला पूजा करते समय सोचता है कि देखो मेरा भाई जंगल में मजे कर रहा होगा, अब जामुन के पेड़ पर चढ़ा जामुन खा रहा होगा, अब इधर से उधर उछलता हुआ भागा-भागा फिर रहा होगा । अहा, वहां कितना मजा है । और उधर लकड़ी काटने वाला विचार करता

है कि मेरा भाई इस समय भगवान के सामने खड़ा भगवान का दिव्य रूप निहार रहा होगा, उनकी पूजा कर रहा होगा, भक्ति, कर रहा होगा, कितना आनन्द पा रहा होगा । सो भैया ! देखो भावों की विचित्रता । पूजा करते हुए तो वह पाप कर्म ही बांध रहा है और लकड़ी काटने वाला लकड़ी काटते हुए पुण्य का संचय कर रहा है । सब भावों की ही बात है । भावों से ही सब कुछ चलता है ।

भैया ! कुछ वर्ष पहले सत्याग्रह का बाढ़ सा उठा था । कानून तोड़ने के लिये, विलायती कपड़ा न बेचने देने के लिए सत्याग्रह । सत्याग्रह का अर्थ है—सत्य आग्रह यानी सत्य हठ अर्थात् न्याय की हठ । सत्याग्रह तब होता है जब बड़ा अन्याय होता है, अंधेर होता है । इस समय बड़ा अंधेर हो रहा है, बहुत विकल्प बढ़ रहे हैं, बड़ा अत्याचार हो रहा है, मुझ ज्ञानमय आत्मा में । जैसी भी अवस्था हो उस अवस्था में ही सत्य का आग्रह करूँ और शांत और सुखी होऊँ । इस प्रकार की दृढ़ आत्मीय हठ करूँ—मैं ज्ञानमय स्वभाव वाला हूँ, मैं पर पदार्थ में मूर्च्छा नहीं करूँगा, सम्यग्दृष्टि ही बना रहूंगा, अपने चतुष्टय को समझूँगा । चाहे मैं जिस अवस्था में हूँ उसी अवस्था में अपने को रखकर सुखी रह सकता हूँ ।

कोई काल हो, कोई देश हो उन पर पदार्थ के गुणों से मेरी कोई पूर्ति नहीं होती क्योंकि मैं तो स्वस्थ हूँ, 'स्व' में स्थित हूँ । अत: मैं निज आत्मा में ही रहता हुआ अपने आप सुखी होऊँ !

चैतन्यमय मुझ आत्मा का कहाँ तो शास्त्र है, कहां चर्चा है, कहां कल्पना है? मैं तो अपने से बाहर कुछ नहीं हूँ । मैं तो चैतन्यमात्र हूँ, यही मेरा स्वभाव है? आतशी शीशे को दोपहर के समय सूरज के सामने कर दो वह सूर्य की किरणों को संकोचकर केन्द्रित करके इतनी गर्मी पैदा कर देता है कि उसके नीचे रखी हुई रुई जल जाती है । इसी प्रकार चारों ओर हमारा उपयोग घूम रहा है, अगर हम उसको चारों ओर से संकोचकर आत्मा में ही केन्द्रित कर दें तो वह आत्मा इतना चमत्कृत हो जायेगा कि कर्मों को जलाकर परमात्मा बन जायेगा ।

मुझ चैतन्यमात्र आत्मा के कहाँ भोग हैं? देखो तो सही एक भजन में कहा भी है 'भोगे तो भोग क्या हैं भोगों ने भोगा हमको' । हमने किसी इंद्रिय का भोग भोगा । क्या किया हमने? विकल्प बनाया, खुद का काल गया, पर पदार्थ में क्या अन्तर किया? फिर भोग भोगने में ज्ञानी को तृप्ति कहाँ, फिर तृष्णा कहां, फिर बंधन कहां? यह सब बातें उस समय की कह रहे हैं जब आत्मा में उपयोग रहता है । इसलिये मैं अपने में, अपने द्वारा, अपने लिये स्वयं सुखी होऊं ।

दु:ख उपस्थित होने पर ज्ञान से मेरे उपयोग की च्युति न होवे । चाहे कितनी ही विपत्ति आये मेरा उपयोग तो ज्ञान ही में रहे । स्व में स्थित रहने वाला ज्ञानी इसी हेतु से काय-क्लेश, तप, व्रत आदि करता है । ज्ञानी को क्या यह श्रद्धा है कि शरीर को तकलीफ देने से जल्दी कर्म झड़ जायेंगे? नहीं । फिर आप पूछेंगे तो ज्ञानी तपस्या क्यों करता है, शरीर को कष्ट क्यों देता है? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी का तो यह अभ्यास है । वह यह विचार करके तपस्या आदि करता है—जब तक जीवन है चाहे जो विपत्ति आवे मैं ज्ञान स्वभाव से डिग न जाऊँ । इसीलिये वह उपसर्ग सहन करता है । साथ ही साथ तपस्या में इच्छा का निरोध होता है ।

इच्छानिरोध से कर्मों की निर्जरा होती है । तपस्या आदि करना तो पाठशाला है । यहाँ यह प्रैक्टिकल करके उपसर्ग को सहन करके देखता है कि मैं विपत्ति में भी ज्ञान स्वभाव से तो नहीं डिगता और जब उसको वास्तव में आपत्ति या उपसर्ग आता है तो उस अभ्यास के कारण अपने ज्ञान स्वभाव से च्युत नही होता ।

निज आत्मा की स्थिति के बिना ध्यान नहीं होता । परमात्मा की उपासना करने का अर्थ है अपनी उपासना करना । परमात्मा के स्वरूप में आदर हुआ इसके माने अपने स्वरूप में आदर हुआ । अपने सिवा उपासना कर भी किसकी सकता है? विषयों के ध्यान में अपने की अशुद्ध और परमात्मा के ध्यान में अपने की शुद्ध उपासना की, परमात्मा के स्वरूप का विचार अपनी उपासना कहलाती है । मैं अपने में अपनी उपासना तो करता ही हूँ, उसे शुद्ध रूप में करने लगूं ऐसा करने से अपने में अपने द्वारा स्वयं सुखी हो जाऊँगा ।

(११)

'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन

[दिनांक १८-१२-१९५२]

श्लोक 4-34

पराशाजीवितो मूढः स्वातन्त्र्यं मन्यते बुधः ।

शं स्वातन्त्र्यं विना नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।४।।३४।।

मोही पुरुष अपने जीवन भर दूसरे की, पर पदार्थों की आशा ही करता रहता है और समझता है अपने को स्वतंत्र । उसकी दृष्टि में यह बात रहती है कि मैं अपने ही तो मकान में रहता हूँ, अपना ही तो खाता हूँ, दूसरे से तो कुछ नहीं लेता इत्यादि । परन्तु वह इस बात को नहीं देखता कि उसको पर पदार्थों की कितनी आशा लगी हुई है? वह उनका कितना दास हो रहा है? असली स्वतन्त्रता तो जब होती है जब पर पदार्थों की किसी प्रकार की भी इच्छा न हो, यहाँ तक कि सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास से भी बेपरवाह होकर अपने में ही रमने की प्रवृत्ति हो जाये । बुद्धिमान् पुरुष की तो यही भावना रहती है कि मैं तो मेरे ही आधीन हूँ । स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी जनों के आधीन रहने में स्वतन्त्रता कहां? जो पुरुष परिग्रह से रहित, वन में वास करने वाला अपने कहे जाने वाले शरीर से भी बेपरवाह हो जाता है, वास्तव में स्वतन्त्र तो वही है । इस प्रकार का स्वतन्त्र ही तो साधु कहलाता है । स्त्री, पुत्र, धन आदि के आधीन रहता हुआ गृहस्थ इस प्रकार का स्वतन्त्र कहां? हां, इतनी बात अवश्य है कि जो घरबार, स्त्री, पुत्र आदि को छोड़कर भी पर पदार्थों में ममत्व रखते हैं, दूसरों की आशा करते हैं उनकी अपेक्षा वह अधिक स्वतंत्र है, जो सब चीजों को भोगते हुए भी उनमें ममत्वबुद्धि नहीं रखता । इसलिए मेरा कर्तव्य है कि पर की आशा त्याग कर अपने में ही अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

जगत् की प्रवृत्ति इस ओर है कि अन्य जीव मेरे अनुकूल हो जायें अथवा मैं और से अनुकूल हो जाऊँ । निश्चय से विचारो तो अपने को अपने में अनुकूल करने में ही सत्य सुख है । जब मैं अपनी ही रक्षा स्वयं

नहीं कर सकता, अपने को ही नहीं समझ सकता, अपने ही आधीन नहीं, फिर दूसरों की चाह करके कुछ प्राप्त कर लूँ असम्भव है । दूसरों की बात छोड़ो, हम अपनी ही चाह के अनुकूल नहीं रहते । मेरी अनुकूलता क्या है? अपने स्वभाव के अनुकूल रहना । हमारे अनुकूल दुनिया नहीं हो सकती सारी दुनिया हमें ठीक समझे हमसे खुश रहे यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता । एक सेठ के चार पुत्र थे । उसने चारों को अपनी सम्पत्ति बराबर-बराबर बांट दी । सबसे छोटे पुत्र से कहा कि भई ! बंटवारा सकुशल हो गया है । अत: गांव वालों की ज्यौनार कर दो । उसने, ज्यौनार में बहुत ही बढ़िया-बढ़िया आठ मिठाई बनाई । गांव वाले आये, खाना खाया और साथ में यह भी कह गये कि ऐसा मालूम होता है कि इसके बाप ने इसे और लड़कों से ज्यादा धन दे दिया है, तभी तो इसने दावत की और आठ मिठाई बनाई हैं । जब दूसरे लड़के ने दावत की उसने केवल चार ही मिठाइयां बनाई । खाने वालों ने तब कहा कि यह लड़का तो बहुत ही तेज निकला, इसने तो चार मिठाई में ही टाल दिया । जब तीसरे ने बगैर मिठाई का भोजन ही उनके सामने रखा तो उन्होंने उसे बहुत ही बदमाश समझा और अंत में जब सबसे बड़े लड़के ने उन्हें केवल रोटी और दाल की ही दावत दी तो वह यह कह ही गये तमाम माल तो इसने हड़प लिया क्योंकि यही तो सबसे बड़ा है और हमें खिलाता है सूखी रोटियाँ । तात्पर्य यह कि सबको कोई खुश नहीं कर सकता । परदोष-दृष्टि वाले पुरुष दुनिया में बहुत हैं । अपना लोटा छानो जग का कुवां छानने से कोई लाभ नहीं है । दुनिया कुछ भी कहे अपनी निर्मलता बनाओ । इसी से काम चलेगा । यहाँ पर किसी ने कुछ अच्छा कह दिया तो क्या वे अच्छा कहने वाले यहाँ सदा ही रहेंगे और क्या हम ही यहाँ सदा रहेंगे? तथा पर की परिणति से हमारा होता क्या है? फिर व्यर्थ हम प्रशंसा सुनने के इच्छुक बनकर बंधन में क्यों बंधे रहें । सहजज्ञान में कहीं हानि नहीं, इसलिये ज्ञान में उपभोग करके चिन्ता के निरोधोद्धार से मैं अपने में अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

एक गुरु और शिष्य थे । वे घूमते-घूमते राजा के बगीचे में पहुँच गये । गुरु एक पलंग पर लेटे और शिष्य दूसरे पर । गुरु ने शिष्य को समझा दिया कि 'कुछ बनना मत' । कुछ देर बाद राजा व सिपाही वहाँ पधारे और शिष्य को पलंग पर पड़े हुए देखा तो पूछा 'तू कौन है?' शिष्य ने उत्तर दिया, 'हम साधु हैं ।' राजा बहुत क्रुद्ध हुआ कि यह कैसा साधु? उसने अपने सिपाही से पिटवा कर उसे निकाल दिया । फिर राजा गुरुजी के पास पहुँचे । गुरुजी से भी पूछा कि 'तुम कौन हो?' गुरुजी ने कुछ उत्तर नहीं दिया और चुपचाप ध्यान मुद्रा से बैठे रहे । राजा ने कहा, भाई ! इन्हें कुछ न कहो, ये तो कोई बड़े भारी साधु मालूम होते हैं । इस प्रकार गुरुजी बच गये । भई, जगत् में बनना नहीं चाहिये । जो कुछ बनेगा वही पीटेगा । ज्यादा चतुराई दिखलाने से कोई लाभ नहीं । कभी-कभी ऐसा होता है—बाजार में तरकारी खरीदने जाते हैं, दस दुकानों पर खूब देखभाल करते है और अन्त में मिलती हैं सड़ी तरकारी ही । अच्छा एक बात बताओ—ठगना बुरा या ठगा जाना बुरा? भाई ! ठगा जाना बुरा नहीं । बुरा तो दूसरों को ठगना है । अगर हम ठगे गये तो कुछ पैसे ही की तो हानि हुई, हमारे परिणाम तो खराब नहीं हुए, हमने पाप बंध तो नहीं किया और

दूसरों को ठगने में तो नियम से परिणाम खराब होते और पाप बंध होता ही है ।

सुख तो सबके त्याग में है । परन्तु मैं संग्रह ही करता जाता हूँ, बताओ दुःख के उपाय से सुख कैसे मिलेगा? साधु की और लंगोटी की कथा सबको मालूम ही है कि एक लंगोटी मात्र परिग्रह रखने से उसकी कैसी दुर्गति हुई । पदार्थों के संग्रह करने से सुख नहीं मिलता । जो लोभी होते है वह अगर बाजार में कोई चीज सस्ती मिल जाती है तो बिना जरूरत भी खरीद लेते है । उन्हें यह आशा रहती है कि शायद यह चीज तेज हो जाये । इस प्रकार चीज खरीदने से लाभ क्या ? इसमें कोई किफायत नहीं है । आवश्यकतानुसार ही चीजें संग्रह करना चाहिये । आवश्यकता से अधिक वस्तु के संग्रह करने में परिणामों में कलुषता आती ही है और श्रद्धा में उतना भी क्यों सोचूं? अत: मैं सर्व परिग्रह को त्याग कर अपने में, अपने द्वारा, अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

सुख के अर्थ पर पदार्थ की प्रतीक्षा करना सुख की हत्या है । मैं सुख से पूर्ण हूं, फिर भी पर से आशा करता हूँ कि इनसे मैं सुखी होऊँगा, बड़े आश्चर्य की बात है । पर में उपयोग गया, पर की आशा की, अपने से हटा, बस दु:खी हो गया । प्रतीक्षा बड़ी बुरी चीज है । कोई कठिन रोगी हो जिसके बारे में सदैव ही बना रहता है कि बचेगा भी अथवा नहीं? उस सन्देह के काल में दुखित और आकुलित बना रहता है । और अगर उसकी मृत्यु हो जाती है तो बस किसी प्रकार का सन्देह न रहने के कारण उतनी आकुलता भी नहीं रहती । इसी प्रकार इसमें इतनी हानि होगी या इतनी, इस प्रकार सन्देह में जो आकुलता होती है, उससे कम आकुलता तो उस धनहानि के साक्षात् होने पर होती है । सन्देह की अवस्था में मार्ग भी नहीं सूझता ।

उत्तम त्याग तो वहां होता है जहाँ आशा न हो, प्रतीक्षा न हो । जहाँ आशा और प्रतीक्षा होती है वहाँ त्याग नहीं । आशा और प्रतीक्षा में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रतीक्षा का समय नजदीक होता है । जैसे स्टेशन पर रेल की प्रतीक्षा और आशा का दूर । एक आदमी जंगल में जा रहा था । रास्ते में एक बुढ़िया को सर्दी से ठिठुरती देखकर उसने अपना कम्बल उस बुढ़िया को दे दिया । आगे चलकर एक किसान अपनी फूंस की झौंपड़ी में बैठा हुआ था, वह उस झौपड़ी के बाहर बैठ गया । जब उसे सर्दी लगी तो वह झौंपड़ी का फुस निकाल-निकाल कर जलाने लगा और तापने लगा । जब इस तरह झौपड़ी का काफी फूंस निकल गया तो किसान ने पूछा—'कौन है ?' आप उत्तर देते है, 'हम हैं दानी के बाप' और अपनी सारी कथा सुना दी । किसान ने बहुत बुरा भला कहा और पीटकर भगा दिया । सो भैया ! यह त्याग नहीं । जहाँ आशा, प्रतीक्षा न हो वहाँ ही त्याग होता है । जो अपने को स्वतन्त्र निश्चल, एकाकी अनुभव करेगा वह किसी की आशा कर सकता है? आत्मा बने तो ऐसा बने, भेदविज्ञान हो तो ऐसा हो, श्रद्धा हो तो यही हो कि बाह्य पदार्थ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, आत्मा का उनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है । मैं अपने चतुष्टय से हूँ, पर पदार्थ अपने चतुष्टय से हैं । जब हम इकले रह जाते हैं, कोई हमारा रक्षक या बात पूछने वाला नहीं रहता तो यह तो हमारा परीक्षा का समय है कि हममें कितनी धीरता आई है । अच्छी बात में तो सभी शांत और विनयी बने रहते हैं । जरा उनकी इच्छा के प्रतिकूल करके कोई बात देखो, यदि वह उस समय भी शान्त रहे

तो समझो वह शान्त है अन्यथा नहीं । गुरुजी (पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी) जब घर रहते थे तब उन्होंने एक बार चिरोंजाबाईजी से कहा कि मैं बड़ा शान्त हूँ । उन्होंने कहा कि अच्छी बात है । एक बार गुरुजी ने खीर बनाने को कहा । उन्होंने खीर तो बनाई और साथ में महेरी भी बना दी । जब गुरुजी खाने के लिये बैठें तो उन्हें महेरी परोस दी, जो रूप रंग में खीर जैसी ही थी । जब वह खाने मे खट्टी लगी तो उन्होंने थाली को दूर पटक कर मारा । तब उन्हें शान्त करने के लिये बाईजी ने कहा कि भैया ! गर्म होने के कारण शायद यह अच्छी न लगी हो, लो मैं तुम्हें ठंडी खीर देती हूँ । ऐसा कहकर खीर दी । तब पीछे बाईजी ने समझाया कि क्रोध के कारण मिलने पर शान्ति रखना शान्ति है । वह कथा गुरुजी ने स्वयं कही थी । सो भैया । कहने का मतलब यह है कि अपनी इच्छा के विपरीत परिस्थिति उपस्थित होने पर बिरले ही शान्त रहा करते हैं ।

कुछ लोगों का ऐसा विचार हो सकता है कि ज्ञानी का जीवन तो बिल्कुल ही बेकार है । कोई उसकी प्रशंसा करे तो वह प्रसन्न नहीं होता, कोई उसकी निन्दा करे तो वह उसको मिटाने का प्रयत्न नहीं करता । स्त्री, पुत्र, आदि का भी सुख नहीं भोगता । उसका होना न होना तो बेकार ही है । परन्तु भाई ! ऐसी बात नहीं है । अनाकुलता तो वही है, वह तो ज्ञातामात्र रहने में ही है ।

न तो भोग में ही शान्ति है और न योग में । शान्ति का आधार तो इच्छा का अभाव है । न साधुभेष में ही शान्ति है और न गृहस्थी में । इच्छा ही न होना यह तो मेरा स्वभाव है । बाह्य में जितने पदार्थ हैं वह इच्छा उत्पन्न होने में निमित्त कारण हैं, अत: उन निमित्तों को टालते हैं । उनको टालने से त्यागी का भेष हो जाता है । हमने बहुत थोड़ासा सीमितसा परिग्रह रख लिया, लो भई । हम त्यागी हो गये । कुछ और संयम से रहने लगे ब्रह्मचारी हो गये, आरम्भ वगैरह का त्यागकर दिया, केवल चद्दर और लंगोटी रखने लगे क्षुल्लक बन गये और सर्वपरिग्रह का त्याग कर दिया तो मुनि हो गये । भेष कोई बनाता है क्या? उन वस्तुओं से प्रयोजन नहीं रहा त्याग कर दिया । त्याग करते करते वह भेष बनता चला जाता है और यह सब भी किया जाता अपनी ही रक्षा के लिये, यह तो अपने पर कृपा है । मुझ पर कृपा करने में कोई समर्थ नहीं, इसलिये अन्य की आशा त्यागकर अपने में अपने द्वारा, अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

सुख तो आशा का अभाव है । नैराश्य अर्थात् आशा न होना यही अमृत है । दु:ख तो मात्र आशा है । किसी से उसके दु:ख का कारण पूछो तो पांच मिनट में ही पता चल जायेगा कि उसे यह आशा है इसलिये वह दु:खी है । इससे बढ़कर कोई दु:ख नहीं । स्वयं में दृष्टि होने पर कोई आशा नहीं रहती । इसलिये मैं स्वदृष्टि से अपने में, अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

आशा हो तो इन्द्र भी दु:खी है । यहाँ तो एक स्त्री के मारे नाक में दम आ जाता है और वहाँ तो अनेकों देवांगनाएँ रहती हैं । अकलंक स्वामी हुए, समन्तभद्राचार्य आदि हुए, यहाँ उन्होंने तपस्या की, ध्यान किया अन्त में स्वर्ग में पहुँच कर समागम तो स्त्रियों का ही मिला । परन्तु भैया ! वहां, पहुँचकर भी वे विरक्त ही

रह रहे होंगे और सावधान । अत: कल्याण पथ के पथिक बनो, यहाँ पर भी आशा नष्ट हो गई है जिनकी, ऐसे साधु ही सुखी हैं । जब आशा नष्ट हो जाती है सिद्धि होती है, क्योंकि उसके बाद अभिलाषा के योग्य कोई चीज नहीं रहती है ।

जब तक किसी पदार्थ में मूर्च्छा है नि:शल्यता नहीं । मूर्च्छा में दु:ख है । वैष्णवपुराण में एक कथानक है कि नारद नरक में देखने के लिये गये, तो क्या देखा कि वह ठसाठस भरा है । फिर स्वर्ग में गये वहाँ विष्णु भगवान् अकेले लेट रहे थे । उन्होंने कहा, 'भगवान ! यह आपने क्या अन्याय कर रखा है कि स्वर्ग में किसी को भी नहीं लाते ।' भगवान् ने कहा कि 'भैया ! स्वर्ग में कोई आना ही नहीं चाहता । अच्छा तुम्हें इजाजत है जिसे लाना चाहो ले आओ ।' तो नारद चल दिये । बूढ़ों से पूछा, 'बाबा स्वर्ग चलोगे?' जवानों से पूछा 'स्वर्ग चलोगे?' बच्चों से पूछा, 'स्वर्ग चलोगे' परन्तु उत्तर में केवल फटकार ही मिली अंत में एक भक्त बच्चे के पास पहुंचे और वही प्रश्न किया । उसने कहा, चलूंगा तो जरूर, परन्तु मेरी सगाई हो गयी है तनिक ब्याह हो लेने दो । ब्याह के बाद उत्तर मिला कि स्त्री गर्भवती है जरा बच्चा हो लेने दो । गरज यह कि कई बार आये परन्तु कुछ न कुछ बहाना ही सुनना ही पड़ा । अंत में निराश होकर भगवान के पास गये और कहा, महाराज आपकी बात सत्य है, यहां कोई आना ही नहीं चाहता । स्वर्ग में तो जब जाये जब कोई अच्छे काम करना चाहे, संसार में तो कोई मोह, राग, द्वेष, मूर्च्छा को छोड़ना नहीं चाहता चाहे मर भले ही जाये । कोई यह नहीं सोचता कि इन परपदार्थों का मोह छोड़कर आत्म-साधनों में तो समय लगावे । बस इसी लिये आज सभी दु:खी हैं । यदि इस नैराश्य अमृत का पान करें तो सुख का अनुभव हो । भाई ! आशा करते-करते तो अनन्तकाल बीत गया अब तो इस नैराश्यमय ज्ञान के अनुभवी की चटाचटी लगाना ही उत्तम है ।

(१२)

गुणस्थान चर्चा

[दिनांक २०-१२-१९५२]

दर्शन, ज्ञान, चरित्र और योग—ये चार चीजें हैं । इनमें से दर्शन, चारित्र और योग के कारण गुणस्थान बनते हैं ज्ञान के कारण गुणस्थान नहीं होते, क्योंकि ज्ञान एक रूप रहता है, उसमें विविधता नहीं होती । ज्ञान का काम तो प्रतिभास करना है । ज्ञान उल्टा नहीं होता । हाँ, कल्पना से, राग से उल्टा हो जाता है । ज्ञान में विकार नहीं होता, ज्ञान का काम तो जानना है । ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान और अधिक हो जाता है, पर ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं होता । इनका मिथ्यापन ज्ञान की गड़बड़ी के कारण नहीं होता, पर विपरीत अभिप्राय के कारण होता है ।

आत्मा में जो दर्शन, चरित्र और योग होता है गुणस्थानों में उन्ही का वर्णन चलेगा । दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, जैसा पदार्थ है वैसा ही श्रद्धान होना । चरित्र के मायने जैसा आत्मा का स्वभाव है उसके अनुकूल प्रवर्त्तन करना । आत्मा के प्रदेश का कम्पित होना योग कहलाता है ।

जिन जीवों का दर्शन मिथ्या है, पर को निज मानते हैं, बाह्य में ममत्व है, विभाव सुहाता है, यह मिथ्यादर्शन कहलाता है । मिथ्यादृष्टि सब निम्न श्रेणी के जीव हैं । यह पहला गुणस्थान कहलाता है । मिथ्यात्व गुणस्थान में अनंतानन्त जीव हैं, जीव अनादिकाल से निगोद में ही रह रहा है । कुछ समय के लिये निकलता है, फिर निगोद में चला जाता है । सच्ची श्रद्धा एक बार भी हो जाये तो मोक्ष नियम से होता है । यह बात दूसरी है कि वह बीच में कुछ समय को विचलित हो जाये । वह सम्यग्दर्शन गुण जिसमें नहीं होता वह मिथ्यादृष्टि है । उसे धर्म नहीं रुचता, धर्म की चर्चा ही कड़वी लगती है, आत्मा के स्वभाव की बात नहीं सुहाती । परन्तु वही जीव अभ्यास के बल से, कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण जैसी वस्तु है वैसा ही उसे श्रद्धान कर लेता है तब वह चौथा गुणस्थान कहलाता है । यह गुणस्थान कर्मों के दबने से क्षय से अथवा कुछ दबने और कुछ के क्षय से होता है । गुणस्थानों का विचार करते हुए आप ऐसी कल्पना ना करें कि मानों कोई सीढ़ी हो जिसके चौदह डंडे हों और जीव एक-एक डंडे पर क्रम से चढ़ता हो । परन्तु आत्मा के ही गुणों की परिणति की ओर दृष्टि दें । जहाँ पहले गुणस्थान में झूठा ही विश्वास करता था जब वह परिणति इस रूप हुई कि इसको सच्चा विश्वास हो गया तो ऐसा कह देते हैं कि चौथा गुणस्थान हो गया । यह एक निर्मल परिणाम है । जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब चौथा गुणस्थान होता है ।

जीव जब दर्शनमोह कर्म का बंध करता है तो मिथ्यात्व का करता है । यह मिथ्यात्व सम्यक्त्व को मलिन करने वाला होता है । इसके तीन भेद हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यक् मिथ्यात्व, (३) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व । सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व कभी भी ये दो प्रकृतियाँ नहीं बंधती । बंधता तो मिथ्यात्व ही है । सम्यक्त्व होने पर उसी मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते है । मिथ्यात्व का कुछ भाग सम्यक् मिथ्यात्व हो जाता है और कुछ भाग सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व में चला जाता है । जैसे जब दाल को दलते हैं तो कुछ मोटे टुकड़े हो जाते हैं और कुछ बारीक चूरा रह जाता है । जब श्रद्धा निर्मल होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है तब इस प्रकार टुकड़े हो जाते हैं । कर्म पिंड के कुछ परिमाण सम्यक् मिथ्यात्व रूप हो जाते हैं और कुछ सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्वरूप ।

अब इसके बाद जब यही परिणति कुछ सच्चा और कुछ-कुछ सच्चा और कुछ झूठा विश्वास जैसी हो जाये तो तीसरा अथवा मिश्र गुणस्थान कह देते हैं । ढुलमुल दोनों विश्वास होना जिसमें कुछ सच्चा और कुछ झूठा विश्वास सम्मिलित हो तो वह तीसरा मिश्र गुणस्थान कहलाता है और जब वह कुछ सच्चा विश्वास तो छूट जाता है और बिल्कुल मिथ्यात्व में नहीं आता तो उस बीच की अवस्था को चाहे वह बहुत ही थोड़ी देर के लिए हो 'सासादन गुणस्थान' कहते हैं। सासादन का अर्थ है—आसादन सहित। अर्थात् सम्यक्त्व का तो अभाव हो गया और मिथ्यात्व में अभी आया नहीं। जैसे एक पेड़ से फल टूट तो गया, परन्तु अभी तक पृथ्वी पर नहीं आया। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान में हालत होती है।

जब उसी जीव के कुछ ऐसे परिणाम हो जाते हैं कि मैं संकल्पी हिंसा न करूं, स्थूल झूठ न बोलूं, स्थूल चोरी न करूं, परिग्रह भी आवश्यकतानुसार कम से कम रखूं और परस्त्री का त्याग करके अपनी स्त्री में ही

संतोष रखूं, पापों की निवृत्ति के अर्थ अपनी गमन करने की भी मर्यादा रख लूं, अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास करूं, समय पर सामायिक करूं, अतिथियों को दान दूं, जिन कार्यों में बेकार पाप लगता हो उनको न करूं, तब उनके परिणामों के दर्जे को पांचवां गुणस्थान अथवा 'देशव्रत' गुणस्थान कहते हैं।

जब उनके परिणामों में और निर्मलता आती है तो वह सोचने लगता है कि मैं विरोधी आरम्भी और औद्योगिक हिंसा भी क्यों करूं, सूक्ष्म झूठ भी क्यों बोलूं, सूक्ष्म चोरी ही क्यों करूं, कुछ भी परिग्रह ही क्यों रखूं, पूर्ण ब्रह्मचर्य से ही क्यों न रहूं किसी भी बात से कोई प्रयोजन न रखूं, केवल अपनी ही आत्मा का ध्यान करूँ, इन श्रेष्ठ वितर्कों के बाद जो अलौकिक निर्विकल्पानुभव होता है तब उस अप्रमत्तभाव को सातवां गुणस्थान कहने लगते हैं, परन्तु अधिक समय तक उपयोग केवल आत्मा में ही न रह सकने के कारण उसको स्वाध्याय भी करना पड़ता है, उपदेश भी देना पड़ता है, भोजन के लिये भी जाना पड़ता है । जब उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है तो उसी को छठा गुणस्थान या प्रमत्त गुणस्थान कह देते हैं । इस गुण स्थान में महात्मा निर्ग्रन्थ दिगम्बर रहता है और आगे भी । उस महात्मा के यदि कुछ आसक्तिवशात् अप्रमत्तभाव देर तक नहीं ठहरता तो प्रमत्तभाव भी देर तक नहीं ठहर पाता, क्योंकि उसके ज्ञान का बल विशाल है । इस तरह ये दोनों भाव (गुणस्थान) परिवर्तित होते रहते हैं ।

इन संयत भावों में बार-बार अनवरत ज्ञानाभ्यास के कारण योगी के ऐसा ज्ञानबल प्रकट होता है जिससे इन परिणामों से भी उत्कृष्ट परिणाम में बढ़ना हो जाता है, इसे सातिशय अप्रमत्त कहते हैं । यह सातिशय अप्रमत्त भाव ऐसे अपूर्व परिणाम प्राप्त करता है जहाँ इस जीव की वास्तविक वह नवीन स्थिति होती है । जहाँ से कर्मों का स्थितियों का, अनुभाग (रस) का, कितनी ही कक्षाओं में मूल से विनाश होने लगता है, उस समय के उन अपूर्व निर्मल परिणामों को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं । इन अपूर्व परिणामों के कारण योगियों की वह स्थिति हो जाती है कि जितने भी योगी एक साथ इन परिणामों से आगे बढ़ते हैं उन सबकी निर्मलता आदि एक सी रहती है । वहाँ मोहनीय कर्म की सारी प्रकृतियां क्रम-क्रम से नष्ट हो जाती हैं, केवल एक सूक्ष्म लोभ मात्र रह जाता है व सभी कर्मों की स्थिति अनुभाग विशेषतया क्षीण होने लगते हैं, अतिशय निर्जरण होने लगता है, इन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं । जो सूक्ष्म लोभ शेष रह जाता है वह भी जहाँ नष्ट होने लगता है उन परिणामों को सूक्ष्म-साम्पराय शुद्धिसंयम कहते हैं । इसके अन्तिम समय में वह शेष सूक्ष्म लोभ भी नष्ट हो जाता है तब वह योगी क्षीणमोह (वीतराग) हो जाता है । भाइयो ! इन गुणों के स्थानों की चर्चा के समय में भावों पर ही विशेष ध्यान देकर विचारें । अपूर्वकरण से सूक्ष्मासाम्परायशुद्धि संयम के परिणामों तक में यह विशेषता है कि जो योगी मोहनीय का उपशम करके परिणामों में चढ़ते हैं वे तो उपशम करते हुए बढ़ते हैं तथा अंत में वे उपशान्तमोह हो जाते हैं । इसीलिए जब उपशान्त हुई कषाय उपशमन काल समाप्त होने पर उदय में आती है तब परिणाम घटने लगते हैं, किन्तु जो योगी मोह प्रकृतियों का मूल से नाश करके बढ़ते हैं वे क्षीणमोह हो जाते हैं । इन चर्चा में उपशान्तमोह ११ वां गुणस्थान है और क्षीण मोह १२वां गुणस्थान हैं । देखो भैया ! कल्याण के लिये सारा उद्यम यही करने योग्य सिद्ध है कि मोह

को समूल नष्ट करें । बड़प्पन मोह बढ़ाने में नहीं है, बड़प्पन मोह के कम होने से, नाश होने से हैं । लोकव्यवहार में भी देखो सरपंच किसे चुना जाता है जिसमें, मोह पक्ष, राग विरोध कम से कम हो । हाँ तो वह योगी महात्मा मोक्ष मार्ग का वीर सेनानी सकल कर्मों के राजा—मोहनीय को मूल से नष्ट कर देने वाला, वीतराग, आत्मा, मोह तो समूल नष्ट ही कर चुका । अब और कर्म अधिक देर तक टिक ही नहीं सकते । तब होता क्या है? सो सुनो भैया ! (यह सोने का समय नहीं है जगने का है) जैसे कि सब कर्मों में कठिन मोहनीय कर्म था, इसी तरह अब इनके शेष के सात कर्मों में जो आत्मा के गुणों पर आवरण व विघ्न करने में निमित्त हैं वे ३ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय भी क्षीण हो जाते हैं । तब वह योगी अन्तरात्मा से परमात्मा हो जाता है । त्रिलोक के त्रिकालवर्ती सर्वपदार्थों का ज्ञान परन्तु आकुलता से रहित होता है, व अनंत सुखी निज ब्रह्मा में मग्न प्रभु हो जाता है । यही सगुणब्रह्म है, साकार परमात्मा है, सफल व्यापक ज्ञानी हैं । जो भव्य इस स्वरूप का ध्यान करते हैं, वे सर्व दुःखों से रहित स्थिति का अनुभव करते हैं । ये प्रभु दर्शनीय है । इनका विहार भी, उपदेश भी भव्य जीवों के पुण्यानुसार होता है । इन्हें सयोगीजिन कहते हैं, यह १३वां गुणस्थान है । जब इन परमात्मा के योग (आत्माप्रदेश परिस्पंदन) नहीं रहता तब उन्हें अयोगीजिन कहते हैं । अयोगीजिन होते ही शीघ्र शरीर रहित हो जाते हैं—ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गति कर लोक के अन्त में विराजमान हो जाते हैं । जिस शरीर से मोक्ष गये उससे किंचित् न्यून परिमाण वाले क्षेत्र में उनका वास है, परन्तु सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं । जीव की उन्नति में चरमस्थिति यही है । योगिजनों के उत्कृष्ट रूपातीत ध्यान में ये ही सिद्ध प्रभु विषय होते हैं याने योगी सत्पुरुष इनके निमित्त से होने वाली अनुकूल निर्विकल्प परिणति के भोक्ता होते है।

भाइयो ! ये जो उन्नति स्थान कह गये हैं, इनमें से आदि के चार गुणस्थान तो देव व नारकी तक भी पा लेते हैं, ५वां गुणस्थान मन वाले पशु पक्षी पा लेते हैं, परन्तु समस्त गुणस्थान व इनसे भी अतीत स्थिति (सिद्ध पर्याय) मनुष्य ही पा सकता है । मनुष्य उसी को कहते हैं जो हित कर सकने लायक मन पावे । पुरुष उसी को कहते हैं जो सच्चा पुरुषार्थ कर लेवे । यह मनुष्य पर्याय जिसके लिये भोगोपभोग के सुखी देव भी ज्ञानी हों तो तरसते हैं वह हम लोगों ने पाई । इतना ही नहीं सर्व समागम पाया, जिनवाणी सुनने समझने की शक्ति पाई । सो भैया ! इस अवसर को व्यर्थ न खोने दें, सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र में प्रवेश करें ।

(१३)

द्वादश अनुप्रेक्षा प्रवचन

[दिनांक २१-१२-१९५२]

इस दुःखमय संसार में यह जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है । गर्भ में देह धारण भी अकेला ही करता है। बालक भी अकेला ही होता, जवान भी, और वृद्ध भी अकेला ही होता है सारांश यह है कि जितनी भी अवस्थायें होती हैं वह इस जीव की अकेले ही होती हैं । यदि इसकी कोई भी अवस्था दूसरे किसी के साथ हो जावे तो वह भी मिट जावे और यह भी मिट जावे, क्योंकि ऐसी अवस्था में दोनों की

परिणति एक हो जायेगी, अकेला ही यह रोगी होता हैं । कोई भी इसके साथ मिलकर बूढ़ा नहीं होता और न ही मिलकर दुःख भोगता है । आप कहोगे कि निगोदिया जीव तो एक साथ मरते और पैदा होते है । पर नहीं भाई ! यूं तो कवायद भी होती है । सब सिपाहियों का एक साथ ही बायां पैर उठता है, एक साथ ही दायां और एक साथ ही सब क्रियायें करते हैं, परन्तु सब करते हैं अपनी-अपनी परिणति से ही । यह जीव अकेला ही नरकों के दुःख भोगता है, अकेला ही पुण्य कर्म करता, अकेला ही स्वर्ग जाता और अकेला ही कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है । जब कोई बीमार हो जाता है तो कुटुम्बीजन तरह-तरह से उसे समझाते हैं धैर्य बँधाते है, परन्तु वे उसके दुःख के लेश को भी ग्रहण करने में समर्थ हैं क्या? नहीं, कदापि नहीं । भैया ! एक अनाथि मुनि थे । जंगल में रह रहे थे । एक दिन नगर का राजा उस ओर से निकला । उनका कृश, धूल से मैला शरीर देखकर करुणा करके पूछा—महाराज, आप कौन हैं? कृपया आप जंगल को छोड़कर मेरे साथ चलिये, वहाँ आपको सर्व प्रकार का आराम मिलेगा । मुनि बोले 'मैं अनाथ हूँ' । राजा ने उत्तर दिया, 'घबराने की बात नहीं, मुझे नाथ समझो ।' साधु ने कहा कि आप कौन हैं? राजा बोला, 'मैं राजा हूं, अनेक मेरे नगर हैं, सुन्दर महल हैं, बगीचे हैं, दास दासियाँ हैं ।' मुनि बोले, 'मेरे भी ये सब चीजें थी । महल भी थे, बगीचे भी थे, दास दासियां भी थे ।' राजा ने प्रश्न किया, 'जब तुम्हारे पास सब कुछ था तो तुम अनाथ कैसे ?' उन्होंने उत्तर दिया राजन् ! 'एक दिन मेरे सिर में दर्द हुआ, स्त्री भी सेवा के लिये खड़ी थी, पुत्र भी थे, सेवक लोग भी दौड़ धूप करते रहे, परन्तु मेरे सिर दर्द को कोई बांट व घटा न सका ।' इसी तरह हमें भी यही विचार करना चाहिये कि हम सब ही अनाथ हैं, क्योंकि कोई भी हमारी रक्षा करने में समर्थ नहीं है । निरन्तर व्याकुल होते रहते हैं । जिन चीजों से कुछ भी प्राप्त नहीं होता वहां दिमाग को जो लगाते रहते हैं, उनमें आत्मा की कोई भी भलाई नहीं होती । इसके विपरीत शरीर की हानि व्यर्थ में होती रहती है । विकल्प बढ़ा रहे हैं और इसी कारण दुःखी हो रहे है । आज तक भी कोई नाथ, कोई रक्षक नहीं मिला । कदाचित् मित्रजन ढाढस बंधाने आते हैं, पर वहाँ भी पोलखाता है । वह करेंगे क्या? जब यहाँ ही कुछ पुण्य न रहेगा तो इतना कहने वाला भी कोई न मिलेगा । बड़े-बड़े इतिहास देखने से पता चलता है कि बड़े-बड़े लोग हुए, परन्तु जब पुण्य क्षीण हुआ तो मरते समय कोई रोने वाला भी दिखाई नहीं दिया । श्री कृष्णजी नारायण थे, परन्तु जब जन्म हुआ तो गीत गाने वाला कोई न था और जब मृत्यु हुई तो रोने वाला भी कोई न मिला । कोई किसी का नाथ नहीं । बहुत ढूंढा आज तक भी कोई नाथ, कोई रक्षक नहीं मिला । परमात्मा को नाथ ढूंढने चले, परन्तु वहाँ पर भी परमात्म तत्त्व पर न पहुंच सकने के कारण मूर्ति, उसका इतिहास, उसका कुल, उसका रंग, उनके माता पिता तक ही दृष्टि रही । इससे दृष्टि हटाई आगे बढ़े । परमात्मतत्त्व पर पहुंचे । वहां भाव जमा प्रार्थना करने लगे, 'नाथ बचाओ । जन्म मरण से त्रस्त हुए, अशुद्धोपयोग में रहते हुए इस अनाथ को बचाओ ।' परन्तु वे तो सुनते भी नहीं इतनी उमर उन्हें सुनाते-सुनाते हो गई । वे तो टस से मस भी नहीं होते । इच्छा ही नहीं है उनके फिर हों कैसे? उन्मुख भी नहीं होते । कान लगाकर भी नहीं सुनते मेरी व्यथा । आंखों से भी नहीं देखते मेरी ओर । प्रार्थना की 'कुछ तो दे

दो ।' पर वे दे कहाँ से? उनके पास है भी क्या? उनके पास शरीर भी तो नहीं रहा। उनकी तो शुद्ध दशा हो गई । कुछ और आगे चले । अच्छा अपने नाथ के पास चलो । अपने में देखो, कहा 'छिपे हुए परमात्मा ! तुम प्रकट होओ । बहुत जगह विकल्प किया, पर पदार्थों को अपने ज्ञान में बसाया, ज्ञान को मलिन किया, ज्ञेय पदार्थों का क्या बिगड़ा? अब तो हे स्वभाव ! विकास को प्राप्त होओ ।' फिर नाथ की ओर से उत्तर मिलता है, 'मैं तो प्रसन्न हूँ, सदैव से प्रसन्न हूँ, अनादिकाल से बाट देख रहा हूँ कि कब तुम मेरी ओर दृष्टि करो । मैं रूठा हुआ नहीं हूं तुझसे, मैं तो तुझे देख रहा हूं, पर तू मुझे नहीं देख रहा ।' इसको दूसरे शब्दों में यूं कह लो—सामान्य विशेष से कहता है, मेरी तो तेरे ऊपर दया ही है, मैं तो यही चाहता हूं कि तेरी दशा न बिगड़े । हे विशेष (भक्त) ! 'देख तेरे प्रतिकूल चलने में मेरा भी तो विसंवाद हो रहा है । तेरे बिना मेरी कोई बात नहीं पूछता ।' इस सबका सारांश यह निकला कि यदि यह जीव सामान्य पर दृष्टि लगावे, इसे अन्य कुछ नहीं सुहावे, कुछ नहीं रुचे, किसी भी पदार्थ से कुछ प्रयोजन न रखें, एक परमात्मतत्त्व की ओर ही देखे तो सारे रोने बन्द हो जायें । अपने ही की ओर झुको । उसके बिना सारी परेशानी ही परेशानी है । अगर कोई दुःख में फंस जाता है तो कोई भी कुटुम्बी उसको उस दुःख से मुक्त नहीं कर सकता । और की तो बात जाने दो, माँ—ममतामयी माँ की गोद में पड़ा हुआ बालक भी काल का ग्रास हो जाता है और मां उसको बचाने में असमर्थ रहती है । कोई स्त्री का वियोग नहीं चाहता, पर जब कर्म का इसी प्रकार का उदय होता है उसकी मृत्यु हो ही जाती है, वियोग हो ही जाता है । किन्ही-किन्हीं को ऐसा प्रेम होता हैं कि यहाँ तक कह देते हैं कि चाहे मेरी जान चली जाये पर ये बच जाये । पर भाई ! वे मोह में ऐसा कह देते है, पर अपनी जान कोई दे नहीं सकता । अगर मान भी लिया जाये कि कोई अपनी जान दे भी दे, परन्तु उसकी जान देने से किसी दूसरे की जान बच नहीं सकती । दुःख को कोई बांट नहीं सकता । यह जानता है परन्तु फिर भी पर में, स्त्री, पुत्र, मित्र में ममत्व बुद्धि करता ही रहता है? । कभी-कभी तो ऐसा भी देखने में आता है कि मां ही अपने बच्चे को खा डालती है । जब प्रसूता कुत्तियाँ भूखी होती है तो अपने बच्चे को खा डालती है । सर्पिणी तो कुंडली में रहने वाले बच्चों में से किसी को भी नहीं छोड़ना चाहती । ऐसा साक्षात् जानता हुआ भी मैं ममता भाव को नहीं छोड़ता । कितना अज्ञान है मुझे । अपना हितू तो....अपना रक्षक तो दशलाक्षण धर्म है । क्षमा करें, विनय करें, नम्र रहे, मान न करें, लोभ न करें, कपट न करें, सभी कषाय न करे आत्मा शान्त है, सुखी है । यही कषाय रहित परिणाम हमारा सहाई है, हमारा रक्षक है ।

हे भव्य जीवो ! यदि कल्याण चाहते हो तो अकेले इस जीव को सबसे भिन्न सब प्रकार से प्रयत्न करके जानो । जिस प्रकार एक विद्यार्थी का ध्येय परीक्षा पास करना होता है, इसके लिये वह स्कूल भी जाता हैं, घर पर भी पढ़ता है, ट्यूशन भी करता है, परचे भी मालूम करने का प्रयत्न करता है और परीक्षा की कापियां किसके पास गई हैं इसका पता लगाने से भी वह नहीं चूकता । सारांश उसको यह धुन रहती है कि किसी प्रकार मैं परीक्षा पास कर लूं । इसी प्रकार यदि आत्मकल्याण की भावना है तो आत्मा का हित को

ही धुन रहे । इसके लिये ध्यान करूँ, स्वाध्याय करूँ, सत्सङ्ग करूँ, सबसे भिन्न केवल एक आत्मा का अनुभव करूं । एक मिनट तो अनुभव हो जाये उस आत्मतत्त्व का । संसार की जो परिस्थिति है कही नहीं जाती । सबको भूल तो जाये एक बार । ज्ञानपूंज आत्मा का अनुभव तो करे, जिसके जानने पर सब 'पर' द्रव्य त्यागने योग्य हो जाते हैं । बच्चे से कोई उसका खिलौना छीन ले तो वह रोने लगता है । उसे कोई तमाचा भी लगायें और दूसरा खिलौना भी दे फिर भी वह तो तब तक चुप नहीं होता जब तक उसे उसी का खिलौना न मिल जाये । इसी तरह यह छोड़ो, वह छोड़ो, सारे उपदेश दिये जाये, परन्तु जब तक यह न बताया जायेगा कि छोड़ने के बाद किस चीज में उपयोग लगायें (क्योंकि उपयोग तो कहीं न कहीं लगेगा ही) कुछ छूट नहीं सकता । अर्थात् जब तक आत्मा का ज्ञान न हो कैसे छोड़ा जा सकता है 'पर' पदार्थों को? पुत्र, मित्र, स्त्री का स्नेह छोड़ो—इसका नुस्खा है अपना खिलौना जान लो जिसमें रमते जाओ । अगले पैर रखने के लिये तो जगह का प्रबन्ध किया नहीं और पीछे से पैर उठा दिये तो गिरेंगे ही । इसी प्रकार पर-रमण छुटाना चाहते और आत्मरमण की बात नहीं करते, कैसे काम बनेगा? पर पदार्थ तो छूटा ही है । उसमें ममत्व न करो । यदि आत्मज्ञान न पाया तो घर भी छोड़ दो तो क्या, ममता तो अकेले बैठे भी हो सकती है । यदि आत्मरमण की चीज मिले तो पररमण स्वयमेव ही छूट जायेगा । फिर भी मोटी-मोटी चीजें चाहे आत्मतत्त्व न समझा हो छोड़ ही देना चाहिये । जैसे मधु, माँस, मद्य, स्थूल हिंसा, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह । इनका त्याग ही अष्टमूल गुण कहलाते हैं । इनका त्याग करने के बाद यह धर्म सुनने का पात्र होता है, इसकी रुचि धर्म की ओर होती है और फिर इसका कल्याण होता है ।

आत्मा के अकेलेपन पर विचार करो । आत्मा के अलावा सर्व पर है । देह भी पर है । माता भी अन्य है । पुत्र, मित्र, कलत्र सब अपने से भिन्न हैं । इस प्रकार सब बाह्य वस्तुओं को अपने से भिन्न समझो । मोही जीव परपदार्थों में रुचि करता है, उनमें मग्न होता है यह उसकी मूर्खता है । ऐसी भावना भाना उसी को कल्याणकारी है जो देह को भिन्न जानकर आत्मा की सेवा करता है, आत्मा में अनुराग करता है, ज्ञाता दृष्टा बनने का उत्साह होता है । व्यवहार धर्म का करना कठिन है । व्यवहार के साधन द्वारा व्यवहार से मुक्ति पाकर निश्चय में प्रवेश करो । एकत्व भावना भाना उसी को है जो सबसे भिन्न आत्मा में रम जावे, जिसे भेद विज्ञान हो जावे, आत्म के अतिरिक्त जिसे कुछ न सुहावे । नहीं तो भैया ! भगवान के सामने भी कह दिया कि 'जय वीतराग विज्ञान पूर जय मोह तिमिर को हरण सूर' पर अपने में उमंग न हुई कि मैं भी तो अपने स्वभाव का आलम्बन करूँ, मोह को हटाऊँ तो भगवान् के गुणगान करना वृथा ही हैं । दुनियां के गीत गा लिये, परन्तु अपनी समझमें न आया, सब बेकार है । एक गाँव के मुखिया थे । जब वह बाजार में तरकारी खरीदने चले तो गांव वाले ने किसी ने कहा—हमारा दो पैसे का साग लेते आना, किसी ने कुछ मंगाया, किसी ने कुछ । आप बाजार को चले सारा दिन दूसरों के लिये चीजें खरीदने में समाप्त कर दिया । शाम को अपनी भी होश आई । अपने लिए तरकारी ली । उस समय सड़ी-गली तरकारी ही मिली । वह लेकर घर आये । स्त्री ने फटकार बताई कि तमाम दिन तो खराब कर दिया और तरकारी लाये सड़ी-गली । सौ भाई !

पहले अपने आत्मतत्त्व पर दया करो, अपने को संभालो, बाद में चाहे प्रवृत्ति करो । दूसरे का उपकार उसके पुण्य के आधीन है । सबसे प्रिय चीज खुद को खुद है । वह 'खुद' किस स्वभावयुक्त है इसकी पहिचान करो । उसी की ओर लगो । एक लड़का खड़ा था । एक कौवा उसके कान के पास से उड़कर गया । पास में खड़े दूसरे लड़के ने कहा, 'तेरा कान कौवा ले गया ।' बस फिर क्या ? वह बालक कौवे के पीछे दौड़ने लगा । दौड़ते-दौड़ते परेशान हो गया परन्तु कौआ हाथ नहीं आया । तब किसी सज्जन ने समझाया कि भाई कौवे के पीछे क्यों दौड़ते हो? कौवा कान नहीं ले गया । वह बालक उत्तर देता है 'कैसे नहीं ले गया, जब ये कह रहे हैं ।' तब फिर वह सज्जन पुरुष समझाते हैं 'अरे मूर्ख ! पहले अपने कान पर तो हाथ लगाकर देख कि कान वहाँ हैं भी या नहीं ।' उनकी बात सुनकर उसकी समझ में आई । उसने कान पर हाथ लगाया तब उसे संतोष हुआ कि वास्तव में कौवा कान नहीं ले गया है । इसी तरह हमारी दशा है । मोही हर किसी के बहकाये में आ जाते है । जो जहाँ आनंद बताता है वहीं दौड़ने लगाते हैं । किसी ने कहा स्त्री में सुख है, उसी ओर चल दिये । किसी ने कहा धन वैभव में सुख है, बस धन कमाने में ही दिन रात एक कर दी । सद्गुरु बहुत समझाते हैं, बार-बार कहते हैं कि ठहरो ! कहां भाग रहे हो सुख के लिये? सुख वहाँ नहीं है । हम इस पर कहते हैं, वहाँ सुख कैसे नहीं है? हमारे दादा बाबा ने भी तो यही किया, हम भी यही कर रहे हैं । अगर इसमें सुख न होता तो हमारे बाबा दादा ही ऐसा क्यों करते? फिर गुरु करुणा करके समझाते है कि अरे अपने में तो देख, अगर तुझे वहाँ आनन्द न मिले तो इन पदार्थों की ओर दौड़ लगा लेना । फिर भी हम हैं कि उनकी बात मानते ही नहीं, जिसका फल हमारे सामने है कि हम महान् दुःखी हैं । लघु आत्मा पर इतना भार है कि शरीर जैसा वह अपने में अनुभव करता है । स्वतन्त्र एक अपने का अनुभव किया जावे तो समस्त भार दूर हो जाये । एक आदमी को स्वप्न हुआ कि उसे २०००) रुपये की एक थैली मिल गई । अब वह स्वप्न में ही उस थैली को जो कि २५ सैर की थी कंधे पर रक्खे चला जा रहा है । इतने बोझ के कारण उसका कंधा दुखने लगा । जब उसकी आंख खुली तो उसका हाथ कंधे पर ही था और वह कंधे को ही दबा रहा था । कंधे में दर्द वास्तव में ही होने लगा था । जिस प्रकार उसे स्वप्न से जागने पर थैली भी नहीं मिली और मुफ्त में कंधे में दर्द हो गया, इसी प्रकार परपदार्थों में आशा करने से परपदार्थ मिलते भी नहीं और मुफ्त में हम दुःखी भी बने रहते हैं । एक बार तो सबसे ममत्व हटाकर ज्ञानपुञ्ज आत्मा का अनुभव करें, उसमें ही सन्मार्ग प्राप्त होगा ।

(१४)

''श्री सहजानन्द गीता'' प्रवचन

[दिनाङ्क २३-२-१९५२]

श्लोक 4-1

को दृश्यं नश्वर सर्वं दुःखमूलं पृथक् हि तत् ।

निन्द्यं हेयमदस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।७।।१।।

जो कुछ भी यहाँ दिखने में आ रहा है वह सब विनाशीक हैं, सदैव रहने वाला नहीं है । जो-जो विनाशीक हैं वह सब दिखने में आ रहा है—ऐसी भी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं जो अदृश्य तो हैं, पर है विनाशीक । दृश्य पदार्थ आकुलता के निमित्त होते हैं । पर परपदार्थ सदैव ही विभाव का, क्लेश का निमित्त होता है, भलाई का नहीं । आप कहोगे यह बात तो सर्वथा ठीक नहीं कही जा सकती, क्यों? देव, शास्त्र, गुरु तो भलाई करने में निमित्त होते हैं । परन्तु भैया ! जिस स्थिति में देव, शास्त्र, गुरु का विकल्प है वह क्या पूर्ण भलाई रूप है? नहीं ! अगर पूर्ण भलाई रूप ही होता तो फिर उस विकल्प को भी छोड़ने का उपदेश क्यों नहीं दिया जाता । सम्यक्त्व में भी परपदार्थ आश्रय नहीं है । सम्यग्ज्ञान की चरम स्थिति में भी परपदार्थ निमित्त नहीं । पूर्ण चरित्र में भी परपदार्थ निमित्त नहीं । शुद्धोपयोग की दशा में किसी प्रकार भी विकल्प नहीं । शुद्धोपयोग में क्या होता है? बहुत बड़ा अशुभोपयोग था वह दूर हुआ, यह तो हुआ लाभ, परन्तु जो रागांश शेष हैं वह तो आकुलता ही है । शान्ति, सहजसुख तो स्वाधीन है । उसमें किसी परपदार्थ की अपेक्षा नहीं, इसलिए दिखने वाले सब पदार्थ निन्द्य हैं बुरे हैं यह भी बात नहीं परपदार्थ निन्द्य या बुरे नहीं हैं, हम यहाँ बुरे अर्थात् हमारे अन्दर राग, द्वेष, मोह भरा पड़ा है अत: परपदार्थ बुरे दिखाई पड़ते हैं अगर हम बुरे न रहें अर्थात् हमारे अन्दर राग, द्वेष, मोह, न रहें तो कोई भी पदार्थ बुरा नहीं है । लोक में कहते है कि स्त्री नरक का कारण है । पुत्र निगोद में ले जाता है, परन्तु क्या यह बात सही है? जब एक गृहस्थ वैरागी हो जाता है, मुनि हो जाता है तो स्त्री, पुत्र जो मौजूद हैं, परन्तु वह, किसी प्रकार उसको रागी, मोही बनाने में समर्थ नहीं है जो कि नरक निगोद के मुख्य कारण बताये जाते हैं ।

एक नाले को ही देखो। नाला अपवित्र है । उसमें कीड़ों के शरीर सड़ रहे हैं । फिर बताओ नाला अपवित्र है या कीड़ों के शरीर, जो उसमें सड़ रहे हैं । उत्तर यही होगा कि उन कीड़ों के शरीर ही अपवित्र हैं । अब विचारों शरीर बनाया किसने? उनका वह शरीर कार्माण शरीर के कारण बना और कार्माण शरीर उनके किये हुए रागद्वेष, मोह के कारण बना । अत: सिद्ध हुआ कि हमारा रागद्वेष मोह भाव ही गन्दा है । औदारिक वर्गणाएँ जो सब जगह मौजूद हैं वह तो शुद्ध ही हैं । जहाँ रागी, द्वेषी, मोही जीव ने उन्हें ग्रहण किया वे अशुद्ध बन गई अर्थात् मांस खून आदि बन गई । उनके ग्रहण करने के पूर्व तो वह शुद्ध ही थी । ऐसा होते हुए भी हमारी दशा ऐसी है कि जिसने उन वर्गणाओं को अपवित्र बनाया, उससे तो अरुचि नहीं करते और अरुचि करते हैं और पदार्थों में मोह है अज्ञानरूप । मोहवश परपदार्थों को अपनाते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थों को अपवित्र बनाने का कारण मोह हुआ । दूसरे शब्दों में हम उसे अपना अज्ञान भी कह सकते हैं । उस अज्ञान के कारण ही हम दु:खी हो रहे हैं । उसको तो अपनाये हुए हैं और जो बाह्य पदार्थ हैं जिनका मुझमें अत्यन्ताभाव है उनसे ही ग्लानि करते है । भैया ! उस विभाव विष को निकालो बाहर फैंको ।

जो पदार्थ स्वयं होवे उसे, भूतार्थ और जो पदार्थ में स्वयं न होवे उसे अभूतार्थ कहते हैं । इस सिद्धान्त के

अनुसार यह स्थूल शरीर भी अभूतार्थ हुआ—यह कार्माण शरीर, ये राग द्वेष आदि मतिज्ञान आदि के अंश भी अभूतार्थ ही हैं और सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि केवलज्ञान की पर्याय भी अभूतार्थ ही है क्योंकि वह भी स्वयं अनादिनिधन सामान्य की तरह नहीं है । अगर स्वयं होता तो उसका आदि या आरम्भ नहीं हो सकता था । ये सब अभूतार्थ है । इन सबसे परे सामान्य तत्त्व की श्रद्धा करने वाला ही सम्यग्दृष्टि है । 'विशेष रूप अथवा पर्यायरूप ही मैं हूं' इस प्रकार विशेष पर दृष्टि रखने वाला, विशेष से रुचि रखने वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विशेष की ओर से बिल्कुल उपेक्षा ही हो जाये । विशेष को उपादेय मानना हानिकारक है, उसका ज्ञान हानिकारक नहीं । हाँ, वह परिणाम हेय है, त्यागने योग्य है जो पदार्थ के उन्मुख होता है । जो वीतराग है, पवित्र आत्मा है वह तो सदैव यह भावना रखता है कि मेरा विनाशीक में अर्थात् पर्याय में अथवा विशेष में राग न हो । मेरी स्वयं में रुचि हो उसकी तो सदैव भावना रहती है ।

मेरी कोई भी शरण न हुआ, न है और न होगा । और बात तो छोड़ो यदि सिर दर्द भी हो जाये तो उसको लेश भी कम करने में कोई समर्थ नहीं । खुरई में श्रीमत सेठजी थे । उनकी जब तीसरी शादी हुई तो नवविवाहिता को पड़ौस की स्त्रियों ने बतला दिया कि सेठजी बड़े तेज मिजाज के हैं, जरा संभलकर सेवा करना । एक दिन हुआ सेठजी के सिर में दर्द । उन्होंने स्त्री को बुलाने के लिए नौकर को भेजा । स्त्री थी बड़ी चतुर । उसने यह सोचकर कि यह तो मंगलाचरण हैं सेठजी को कहला भेजा कि इस समय उसके पेट में बहुत जोर से दर्द है, अत: वह आ नहीं सकती । बस इतना सुनना था कि सेठजी अपना सिर दर्द भूल गये और झट स्त्री के पास उसका उपचार कराने का विकल्प लेकर आये । सो भैया देखो न, सब अपने दुःख से दुःखी हैं, कोई भी किसी का सहाई नहीं होता । ये मेरे सहाई हैं, स्त्री रक्षा करने वाली है, पुत्र मुझे सुखी करते हैं, धन ही मेरा शरण है—यह सब भ्रम है । सुख और शान्ति तो इस भ्रम के दूर करने से ही होगी । अत: मैं शरण के भ्रम को हटाकर अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

जो कुछ भी मेरे अन्दर पैदा हो रहा है अगर तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाये तो कोई भी परपदार्थ या परमात्मा मेरे अन्दर में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है । हां इतनी बात अवश्य है कि हमारे ज्ञानबल की अशक्ति के कारण परपदार्थ में उसमें जिसमें निमित्त हो जाते हैं । क्रोधी की तो कुछ ऐसी परिणति हो जाती है कि क्रोध उसका स्वभाव सा मालूम होने लगता है । वह जहाँ भी जाता है झट क्रोधित हो जाता है । क्षण में ही क्रोध का निमित्त पैदा कर लेता है । यह ध्यान रखो क्रोध जब भी होगा पर के ऊपर (विषय से) ही होगा । परन्तु यह विचार करो कि तुम्हें क्रोध के पैदा होने में पर का कोई अपराध नहीं । मूल कारण तो उसके ही ज्ञानबल की कमजोरी है या दूसरे शब्दों में यह कह लीजियेगा कि अज्ञान ही उस क्रोध का मूल कारण है । कषाय दूर हो या न हो, परन्तु यह तो श्रद्धापूर्वक रटते रहो, यह भावना बनाए रखो कि ये सब जो मेरी आत्मा से अन्य हैं वे सब पर है—मैं तो अपने द्रव्य से हूँ पर के से नहीं, अपने क्षेत्र से हूँ दूसरे के

से नहीं, अपने काल अथवा परिणमन से हूँ पर के से नही, अपने ही भाव से हूँ पर के से नहीं । बस यही भावना तो कल्याण का मार्ग है । आत्मा विवेकी है । इस प्रकार की भावना बार-बार भाने से ऐसा समय अवश्य आ जायेगा कि कषाय समाप्त हो ही जायेगी । लोग कहते हैं कि यदि क्रोध होता है तो उसका उपाय है कि मुंह में पानी भर लो अर्थात् बोलना बन्द कर दो । इसी प्रकार यदि कषाय दूर करना हो तो भेदविज्ञान के उपयोग से पर की उन्मुखता बन्द कर दो, भेद भावना का चिन्तवन करो । यही सोचो कि मेरा तो किसी परद्रव्य के साथ कोई सम्बंध नहीं । कोई भी किसी की परिणति का स्वामी नहीं । आदमी तो अपने ही भाव बना सकता है । न्याय ही ऐसा है । युक्ति ही नहीं अनुभव से भी यही सिद्ध हो चुका है । पहले भव में जहाँ मैं था वहाँ भी मरण के समय किसी ने भी मुझे मरने से न रोका । यहाँ पर भी, इस भव में भी मैं अनेक बार असाध्य रोगों से पीड़ित हुआ, परन्तु कोई भी मेरे दुःख को किंचित् भी न बांट सका । बस, अब तो मैं परमतत्त्व को ही देख रहा हूँ सामान्यतत्त्व पर ही मेरी दृष्टि है । मेरा कोई भी शरण नहीं, कोई भी रक्षक नहीं । इसका प्रमाण मेरा स्वयं का अब तक का अनुभव ही है । अत: मेरा तो अब यह ही कर्तव्य है कि पर में शरण के भ्रम को दूर कर स्वयं ही में शरण बुद्धि करके अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊं ।

जब हमारी पर में शरण बुद्धि है तब ही तो आगे का व्यवहार चलता है । लोग कहते हैं कि स्त्री, पुत्र वगैरह के बिना गुजारा नहीं । परन्तु भैया ! जब पड़ती है गुजारा हो ही जाता है । क्या काल का आना बन्द हो जायेगा? क्या किसी पदार्थ का परिणमन बन्द हो जायगा? नहीं ! आंखों के सामने देखते हैं सबके गुजारे होते हैं । जिनके सारा परिवार है उनका जब मरणकाल होता है तब क्या मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है? स्त्री, पुत्र आदि के होते भी मृत्यु के मुख में प्रवेश करना ही पड़ता है । वास्तव में परपदार्थ से आत्मा का क्या गुजारा? परन्तु हो गुजारा हो सकता है कैसे? आत्मदृष्टि करो । सोचो जो होगा अच्छा ही होगा, अब जो हो रहा है अच्छा ही हो रहा है । विपत्ति आ रही है, समझो कि जो पूर्व में कर्म बंधन किया था यही कर्म अब दुःख देकर निर्जरा को प्राप्त हो रहें हैं । स्वात्मदृष्टिक तो नरक विपत्ति में भी भलाई के लिये है । दृष्टि ही अच्छी है, हितकारी है । स्वरूपदृष्टि न हो तो दुःख ही है । यदि लोभ ही हो तो स्वदृष्टि का ही लोभ हो । एक पद्य में लिखा है 'लोभी लोभ त्याग कर देहु ।' यदि परिवार का लोभ है तो परजन के लोभ का त्याग करके धर्मात्माओं का लोभ करो । इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मात्माओं की संगति का ही ध्यान रखो । इसी तरह उस पद्य में बहुत से लोभों के विषय में लिखा है कि कीर्ति का लोभ है तो ऐसा करो कि रागी विरागी दोनों में व्यापक हो आदि । खैर, लोभ तो करो कोई हानि नहीं, पर शैली बदल दो फिर लोभ ही न रहेगा । अहो, जब मैं सबसे पृथक् हूँ तब मैं कर्तापन की मदिरा पीकर बेहोश क्यों होऊँ । उसको फेंककर अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

(१५)

"धर्म का मूल"

[दिनाङ्क २-३-१९५३]

धर्म क्या है? यह समझने के लिये सर्वप्रथम तीन बातों का ज्ञान होना आवश्यक है—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) पर्याय । इन तीनों का ज्ञान धर्म में प्रवेश कराने के लिये मुख्य द्वार है या यूं कह लो कि धर्म यदि धारण करना है तो इनको हृदयङ्गम करना ही पड़ेगा । आप कहोगे कि मेंढकों ने भी यही कवायत होगी—भाई नहीं की होगी, परन्तु इस द्रव्य गुण पर्याय का राज अपने एक चित् प्रतिभास के लक्ष्य से समझा ही होगा । खैर, द्रव्य तो कहते हैं अखण्ड पिण्ड एक सत् को और जो द्रव्य होता है वह परिणमे बिना रहता नहीं सो जितने भी परिणमन हैं वे पर्याय कहलाते हैं । अब वस्तु में जितने प्रकार के परिणमन ज्ञात हों वस्तु में उतनी ही शक्ति होती है । शक्ति को गुण कहते हैं । इस प्रकार द्रव्य में अनन्तगुण होते हैं, हम आप तो थोड़ा सा ही जान पाते हैं । अब यहां सरल उपाय से ऐसा चाहो कि बात त्रैकालिक नहीं है कुछ समय के लिये है, वह तो पर्याय है, कार्य कहो—परिणति कहो एक ही बात है और जो त्रैकालिक है उसमें फिर यह बतावेंगे कि कौन द्रव्य है कौन गुण है? अच्छा तो अब जो भी कोई पूछे कि यह क्या है तो सबसे पहले यह विचारों कि क्या यह त्रिकाल रहने वाला है? यदि वह त्रिकाल रहने वाला नहीं तो और कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं । झट से कह दो कि यह पर्याय है । यह घड़ी क्या है? विचारो क्या यह घड़ी इसी रूप से त्रिकाल रह सकती है ? नहीं, अत: यह पर्याय हुई । इसी प्रकार यह मनुष्य है तो इसमें मनुष्य क्या हुआ? मनुष्य त्रिकाल न रहने के कारण पर्याय ही है । इसी प्रकार चौकी, लालटेन आदि भी हैं । फूल की सुगंध क्या है? सदैव न रहने के कारण आप झट कह दोगे कि यह भी पर्याय है । उसमे जरा और सूक्ष्मदृष्टि से विचारो । जो आत्म में राग, द्वेष, मोह आदि उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य हैं, गुण हैं अथवा पर्याय हैं? झट आपने विचारा कि ऐसा भी होता है किसी समय कि ये राग, द्वेष, मोह नहीं रहते तो इसका सीधासादा उत्तर यही होगा कि ये भी पर्याय हैं ।

पहिले यह कहा था कि जितने भी पर्याय परिणमन कार्य होते हैं द्रव्य में उतनी ही शक्तियाँ हैं । शक्ति का नाम गुण है । तो अब वह विचारों कि कौनसी पर्याय किस गुण की है? साथ ही यह भी सोचो कि किस द्रव्य में है? कुछ पर्यायें ऐसी भी होती हैं जो प्रत्येक प्रदेश की आकृति आदि रूप होती हैं सो जो गुण की पर्याय है वह तो अर्थ पर्याय कहलाती है तथा जो द्रव्य के प्रदेशों की अवस्था है वह व्यंजन पर्याय है एवं जो प्रदेशों में भी परिणमन नहीं, गुणों में भी परिणमन नहीं, किन्तु न द्रव्यों के संयोग वियोग आदि में कुछ कहा जाता है वह द्रव्यपर्याय है । हाँ तो यह पर्याय है इसके साथ यह भी सोचना चाहिये कि आखिर यह किसकी पर्याय है? या तो यह किसी गुण की पर्याय है या किसी द्रव्य की पर्याय है । गुण और द्रव्य दोनों ही त्रिकाल रहने वाले हैं । इनको समझाने के लिये यह नुस्खा हैं कि द्रव्य तो केवल छ: ही होते हैं—(१) जीव, (२) पुद्गल (३) धर्म, (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल । (पुद्गल से यहाँ स्कंध नही लेना, परमाणु समझना) । जिसकी वह पर्याय है यदि वह इन ६ में से तो झट कह दो कि यह द्रव्य है (क्योंकि जीव आदि में से एक है) अथवा यदि वह इन ६ में से नहीं है, और है त्रिकाल रहने वाला तो सोचो कि यह गुण है, और यदि कुछ समय की रहने वाली बात है तो यह किसी न किसी गुण की पर्याय है । देखो ! द्रव्य और गुण में

अन्तर क्या है? रहते ता दोनों त्रैकालिक हैं, परन्तु समस्तगुणों का अखण्ड पिण्ड तो द्रव्य है और वे समस्त व्यस्तरूप से देखो, प्रत्येक गुण हैं ।

अब ये तीन बातें तो सहज ही मालूम हो जायेंगी । जरा कठिन जानने की बात केवल इतनी ही रह गई कि आखिर यह किस गुण की पर्याय है । गुण हर द्रव्य में अनेक होते हैं । बस इनको जरा ठीक प्रकार से सोचना पड़ेगा । घड़ी पर्याय है । अब विचारो कि यह किसकी पर्याय है । पुद्गल की व्यंजन पर्याय है— समान-जातीय द्रव्य पर्याय है क्योंकि एक ही बिरादरी के परमाणुवों के संयोग से यह बनती है । मनुष्य पर्याय किसकी हुई? जीव पुद्गल की असमान जातीय द्रव्य पर्याय है क्योंकि भिन्न जाति के जीव और पुद्गलों के संयोग से वह व्यक्ति है । फूल में सुगन्ध है यह भी पर्याय है । यह पुद्गल में एक गंध नाम का गुण है जो सदैव रहता है यह उस ही की पर्याय है । मनुष्य का मृतक शरीर असमानजातीय द्रव्यपर्याय नहीं कहलाता, वह तो पुद्गल पुद्गलों की समान जातीय पर्याय है । जैसे कि यह चौकी है, जब इसका काष्ठ वृक्ष में था— संचित था तब तो यह असमानजातीय पर्याय थी परन्तु अब तो यह असमानजातीय पर्याय नहीं है । हाँ यह बात अवश्य है कि जीव के सम्बन्ध बिना यह मूर्ति नहीं हो सकती थी तब ऐसा कह लो कि चौकी है वह वनस्पतिकायरूप पर्याय है । यह ढेला पृथ्वीकायरूप पर्याय है । वायु जो चलती है वायुकायरूप पर्याय और ओस पड़ती है वह जलकायरूप पर्याय है । अब राग द्वेष, मोह को देखो । ये किसकी पर्याय हैं । आत्मा में एक चरित्र गुण होता है ये उसकी पर्यायें हैं परन्तु हैं ये पर्यायें विभाव पर्यायें । हमने लालटेन जानी यह ज्ञान है, यह क्या है? इस प्रकार का ज्ञान त्रिकाल न रहने के कारण यह भी पर्याय है और यह पर्याय है आत्मा में रहने वाले ज्ञान गुण की ।

अब आगे चलिये । हमने हाथ से पीछी उठाई । दिखने में तो यही कहा जायेगा कि हाथ ने पीछी उठाई । परन्तु जरा विचार करो कि क्या वास्तव में हाथ ने पीछी उठाई । नहीं । हाथ ने तो अपने में ही परिणमन किया और पीछी ने पीछी में ही । हाँ, हाथ की कुछ इस रूप पर्याय हो गई कि पीछी उसके संयोग में है तब उसके निमित्त से पीछी भी चली । किसी द्रव्य की किसी भी गुण की पर्याय जो होती है वह उस ही द्रव्य के प्रदेशों में होती है । हाथ की कुछ भी अवस्था पीछी में कैसे आ जावेगी । पीछी में जो क्रिया है वह इसकी क्रियावती शक्ति का परिणमन है । हाथ जो चला वह इसकी क्रियावती शक्ति का परिणमन है । दोनों का एक समय में २ परिणमन है, फिर भी निमित्त की ओर से देखो तो निमित्त प्रेरक तो हाथ ही हुआ और पीछी की क्रिया नैमित्तिक हुई । जो प्रेरक होता है उसे कहते हैं कर्त्ता, और जिसमें वह प्रेरणा निमित्त होती है वह कहलाता है कर्म । जैसे आत्मा में रागद्वेष उत्पन्न हुए और कर्म आये तो इसमें कर्म तो हुए आश्राव्य और रागद्वेष हुए आश्रावक । वह कर्म बंध गये, इसमें कर्म तो हुआ बन्ध्य और जिसके कारण से ये कर्म बंधे यानी रागद्वेष आदि वे हुए बन्धक । बन्धक का अर्थ है बांधने वाला और बन्ध्य का अर्थ है बंधने योग्य । इसी प्रकार कर्म रुके अर्थात् संवर हुआ, तो इसमें भी समिति, गुप्ति आदि तो हुए संवारक जिनके कारण भावों में निर्मलता आने से कर्मों का आश्रय रुक गया और इसमें कर्म हुए संवायं । इसी प्रकार कर्मों की निर्जरा में

मुख्य पड़ने वाले कारण अर्थात् शुद्धोपयोग आदि तो हुए निर्जरक और कर्म हुए निर्जय । यहाँ ये युगल पर्यायें बताई । इनका प्रदेशों में जोड़ करो तब आप जान ही गये होगे कि कर्म की आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा आदि व्यवस्था तो कर्मवर्गणा में ही हुई और विशुद्ध, अशुद्ध अवस्था जीव में हुई । देखो भैया ! वास्तव में परखकर सोचो, दो क्रिया का कर्त्ता एक तो न हुआ । ओह ! इस एक क्षेत्रावगाही तक में तो यह हालत है तब लोगों को ऐसा सोचते हुए कि ''मैं धन कमाता हूँ, पुत्र पालता हूं'' संकोच भी नहीं होता, यह सब अज्ञान का महात्म्य हैं ।

अच्छा अब इस बात पर ध्यान दो—लो ये हाथ ने पीछी उठाई । इस कार्य में कितनी क्रियायें हुई? (१) आत्मा में श्रद्धा हुई कि इस प्रकार हाथ की क्रिया करने से पीछी उठ जायेगी, (२) आत्मा में इस प्रकार का ज्ञान भी हुआ कि इस प्रकार करने से पीछी उठ रही (३) आत्मा में इच्छा हुई यह उसका हुआ चारित्र (विभाव) (४) आत्मा में एक योग शक्ति है जिसके कारण से वह निज प्रदेशपरिस्पंदरूप क्रिया बनी (५) और यह क्रिया जो आपको दिख रही है वह पुद्गल में ही हुई । विचारो कि ये प्रथम की चार चीजें तो आत्मा में हुई और पाँचवी चीज यानी यह क्रिया हुई आत्मा से भिन्न परद्रव्य में । अज्ञानी तो वहाँ यह भी देखता ''मैंने पीछी उठाई, मैंने इसे सुखी किया, मैंने इसे दु:खी किया ।'' ज्ञानी प्रत्येक कार्य को उसके आधारभूत द्रव्य में ही थोपता अन्य पदार्थ में नहीं । झगड़े तो इसी ममत्वबुद्धि के बढ़ रहे, संसार भी तो कर्तृत्वबुद्धि से है । अज्ञानी के यह समझ ही नहीं बैठती कि ''होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।'' इससे धर्म क्या निकला? हम कोई भी क्रिया करें उसका कुछ भी परद्रव्य में नहीं जाता और न परपदार्थ का कुछ भी हमारी आत्मा में आता । इस प्रकार सोचने वाला ज्ञानी मनुष्य परपदार्थों का परिणमन चाहे जिस रूप से हो वह उससे रागद्वेष नहीं करता, परन्तु अपने यथास्वयंभूत स्वभाव के लक्ष्य से रहता है । इस प्रकार ज्ञानी पुरुष न यह विचार करेगा कि मैं किसी को सुखी दु:खी करता हूँ और न वह यह विचार करेगा कि कोई मुझे सुखी दु:खी करता है वह तो सदैव यह ही ध्यान रखेगा कि परपदार्थ में होने वाली पर्याय मुझे सामान्यत्व यानी आत्मा में कुछ भी सुधार बिगाड़ नहीं करती ।

अब जरा और गहरे में चलो । देखो ! जो ये एकक्षेत्रावगाही जीव व कर्म है इनकी अवस्थायें तो आप जान ही गये कि जीव में यह परिणाम तो पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष है । और कर्म में ऐसे परिणमन उसका पुण्य, पाप, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा मोक्ष है । अब इनमें से किसी को भी भूतार्थ से विचारों अर्थात् वे अवस्थायें जिस सामान्य में हुई उस सामान्य के लक्ष्य पर बल देकर विचारो तो यह पर्यायें उस बुद्धि में स्थान न पाकर विलीन हो लेंगी तब कर्म सामान्य तत्त्व या जीवसामान्यतत्त्व की स्थापना होगी । तदनंतर सर्व सामान्य बुद्धिगत होने पर अर्थात् 'पुद्गल' ऐसा नहीं, 'जीव है' ऐसा नहीं, किन्तु 'हैं' यह प्रतिभास होने पर केवल आत्मा की ख्याति रह जावेगी वह भी 'मैं हूँ' इस विकल्प से भी अतीत होकर । यही सम्यग्दर्शन में स्व का अनुभव है ।

भैया समझे ! द्रव्य गुणपर्यायों का यथार्थ ज्ञान करने में क्या धर्म आया? सबकी परिणति उन उन्ही के द्रव्य

गुणों में होती है मेरा कोई सम्बन्ध नहीं । 'पर्यायों का आधारभूत सामान्यतत्त्व यह है' ऐसा बोध होते ही आत्मा में दो पुरुषार्थ हुये—(१) परद्रव्यगुण पर्यायों से निवृत्त, और (२) सामान्य की उन्मुखता (यही धर्म है) यही मोक्षमार्ग है ।

अच्छा भैया ! इस समय के मामले को तो देखो । मैं बोल रहा हूँ किसके लिये? समझ में तो प्राय: यह आ जावेगा कि श्रोताओं के लिये बोल रहे और आप सुन रहे हैं सो किसके लिए? बोल दो झट, वक्ता के लिये (तुम्हारे लिये) सुन रहे हैं । पर नहीं भाई, ऐसा नहीं है । हम बोल रहे हैं तो अपनी शान्ति के लिये, चेष्टा के लिये, आप सुन रहे हैं तो अपने लिए शान्ति के लिये । आपके प्रदेशों में, गुणों में आप कुछ कर सकते? नहीं । हमारे प्रदेशों में, गुणों में आप कुछ कर सकते? नहीं । क्यों? क्योंकि बिल्कुल भिन्न हम आप हैं । तब सम्बन्ध छोड़ा यही तो धर्म है ।

पर्यायों से निरूपण शुरू करके क्रमश: अन्तरंग पर पहुंचिये । अन्त में 'सतु' स्वसहाय निर्विकल्प विषयक उपयोग रह जावेगा । इसी मर्म को तो कितने ही सिद्धांतनिर्मातावों ने विशेष निरपेक्ष होकर एकत्व भिन्न-भिन्न शब्दों में माना है ।

भाई ! अन्त में कहाँ पहुँचना है इसका लक्ष्य हो जाना सबसे बड़ी कमाई है । इसी को ही अंगीकार करो । अन्य कुछ मत अपनावो । रागद्वेष न करो । यही सुख का मार्ग है ।

गहरी खोज के बाद.....

''सुख''

मिला यहाँ....

इस श्रद्धा में :—

१. मेरी चेष्टा का फल मुझ में होता है अन्य में नहीं । बाह्य पदार्थ में हम कुछ नहीं कर सकते, केवल अपने ज्ञान में ही कर सकते हैं व करते है ।

२. मैं अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से हूँ, पर के से नहीं ।

३. मैं एक हूँ, अद्वैत हूं, शुद्ध हूँ, चैतन्यस्वरूप वाला हूँ, स्वतन्त्र हूँ पर-पदार्थ से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । आत्मा का अकेलापन विचारू । देह भी पर है ।

४. किसी आत्मा का किसी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, राग का राग से सम्बन्ध है ।

५. मैं तो अकिञ्चन हूँ मेरा कुछ नहीं है ।

६. मुझे परेशान करने वाले, दुखी करने वाले कोई बाह्य चेतन अचेतन, पदार्थ नहीं है ।

७. मेरी जितनी भी अवस्थायें हैं उनमें ले जाने वाला मैं ही तो हूँ, अत: मैं ही अपना गुरु, अपना नेता हूँ।

८. अपने ही भावों से अपना कुछ होता है ।

९. एक वस्तु का दूसरी वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं । सम्बन्ध निषेध के अतिरिक्त शांति का कोई उपाय नहीं ।

१०. ज्ञान न तो ज्ञेय को कुछ करता ही है और न उसको भोगता ही हैं ।

११. मैं अनाथ हूं, कोई भी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं ।

१२. पहले अपने आत्मतत्त्व पर दया करूं, अपने को संभालूं, बाद में चाहे जो प्रवृत्ति करूं।

१३. और की तो बात जाने दो, ममतामयी मां की गोद में पड़ा हुआ बालक भी काल का ग्रास हो जाता है और मां उसको बचाने में असमर्थ होती है ।

१४. दुःख 'यह मेरी है या वह मेरी थी' इस विकल्प में है, पदार्थ में नहीं । वस्तु से मोह हटा लो तो उसको न पाने अथवा खोने का दु:ख नहीं होगा ।

१५. तृष्णा के बढ़ाव में दु:ख है और घटाव में सुख। इच्छा से चिन्ता उत्पन्न होती है और जहां चिन्ता हुई क्लेश अनिवार्य है।

१६. जैसे-जैसे विषयाशा बढ़ती जाती है, बंधन भी बढ़ता जाता है। जितना कम सम्बन्ध होगा उतनी ही कम चिन्ता होगी।

१७. असन्तोष ही दरिद्रता है । संग्रह करने से सुख नहीं । सुख तो आशा का अभाव है । जब आशा नष्ट हो जाती है तभी सिद्धि होती है ।

१८.किसी से कुछ न चाहे (यहाँ तक की मोक्ष भी नहीं) क्योंकि मोक्ष जैसी दुष्प्राप्य वस्तु भी तो अपनी आत्मा में बसे हुए परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होगी।

१९.सुख के अर्थ परपदार्थ की प्रतीक्षा करना सुख की हत्या करनी है । परपदार्थों में आशा करने से परपदार्थ मिलते भी नहीं और मुक्त में हम दुःखी भी बने रहते है ।

२०. अपनी इच्छा के विपरीत परिस्थिति उपस्थित होने पर भी मैं शान्त बना रहूं । क्रोध के कारण मिलने पर शांति रखना ही शांति है ।

२१.शांति का आधार तो इच्छा का अभाव है ।

२२. मैं संसार में तो बसूँ (नहीं तो जाऊँ भी कहां) परन्तु संसार को अपने में न बसाऊँ ।

२३. यह विषयभोग बड़े सरल दिखते हैं, पर बड़े महंगे पड़ेंगे ।

२४. अन्तर्दृष्टि करूं तो तत्त्व मिले, बाह्यदृष्टि होने पर तो दुःख ही मिलेगा ।

२५. शांति तो तत्त्व में ही है । तत्त्व—अर्थात् ऐसा ज्ञान होना जिसमें राग द्वेष का लेश भी न हो ।

२६. 'स्व' का एकपन, एकाकीपन ही मंगल है, वही आत्मा की रक्षा करने के लिये दुर्ग है।

२७. अपने स्वभाव की ओर ढला हुआ स्वरूप ही मेरा शरण है ।

२८. यदि ज्ञान में उपयोग हो जाये तो फिर बाह्य में कुछ होता रहे, मेरा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता।

२९. भगवान् आंखों से नहीं दिखता, परन्तु राग, द्वेष, मोह के अभाव में आत्मानुभव होने पर परमात्मा अनुभव हो जाता है ।

३०. मैं तो ज्ञाता दृष्टा स्वरूप हूँ, अजन्मा हूं, अमर हूँ, बस मेरी तो यही स्थिति हो कि मैं केवल ज्ञानमय आत्मा तो रहूं, पर और कुछ न रहे ।

३१.स्वभाव विकास का कारण तो निज मग्नता ही है ।

३२. जानने मात्र की दशा में अर्थात् ज्ञानदशा में दुःख नहीं ।

३३. जिस रूप जो पदार्थ परिणमता है परिणमने दूं । मोही बनकर क्लेश को प्राप्त मत होऊँ । सदैव अपनी आत्मा में ही रत रहूँ ।

३४. स्वास्थ्य अर्थात् 'स्व' में स्थिति के बिना निर्मलता नहीं आ सकती, कल्याण नहीं हो सकता ।

३५. चारों ओर घूमने वाले अपने उपयोग को यदि सब ओर से खींचकर आत्मा में केन्द्रित कर दूं तो मैं (आत्मा) इतना चमत्कृत हो जाऊँगा कि कर्मों को जलाकर एक दिन परमात्मा अवश्य बन जाऊँगा।

३६. जगत की बात छोड़ूं, अपने को ही अपने अनुकूल बनाऊँ । अपना लोटा छानूँ, जगत

का कुआं छानने से कोई लाभ नहीं ।

३७. आशा करते-करते तो अनन्तकाल बीत गया, अब तो इस नैराश्यमय ज्ञान के अनुभव की ही चटाचटी लगाऊँ ।

३८. मैं सामान्य पर ही दृष्टि लगाऊँ मुझे कुछ न सुहावे, कुछ न रुचे, किसी भी पदार्थ से कुछ प्रयोजन न रखूँ, एक परमात्मतत्त्व का ही लक्ष्य करूँ ।

३९. संसार की जो परिस्थिति है कही नहीं जाती ! सबको एक बार भुलाकर ज्ञानपुञ्ज आत्मा का तो अनुभव हो ।

४०. यदि आत्मरमण की वस्तु मिले तो पर-रमण स्वयमेव ही छूट जायेगा । बस यह समझ लूँ कि सब कुछ छोड़ने के बाद किसमें उपयोग लगाऊँ? क्योंकि उपयोग कहीं न कहीं लगेगा ही ।

४१.सुख तो अपने में ही है, बाह्य में ढूँढना व्यर्थ है ।

४२. जहाँ आशा और प्रतीक्षा होती है वहाँ त्याग नहीं । यदि आत्म कल्याण की भावना है तो आत्मा का हित हो यही धुन रहे ।

४३. जीवन के अर्थ है—निराकुलता होना, बेफिक्री होना, संतोष होना, आत्मस्थिरता होना ।

४४. जो परिस्थिति इस समय मेरी है उसमें ही सन्तुष्ट रहूं । यदि ऐसा नहीं है तो भविष्य में होने वाली स्थिति में तो सन्तोष होना असम्भव ही है ।

४५. अपनी आत्मा में उत्साह रखना, बल रखना, जैसी भी परिस्थिति हो प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार व सहन कर लेना—यही सुख और शांति का मार्ग है ।

४६. मैं ऐसा बल प्राप्त करूँ कि जो संयोग व जो सम्पत्ति, वैभव प्राप्त हुआ है उसमें मेरा ममकार अर्थात् ये मेरे हैं ऐसी कल्पना ही न हो ।

४७. राग द्वेष, मोहरहित परिणाम होना यही महान यज्ञ है, यही पूजा है, यही स्वाध्याय है।

४८. ठगा जाना बुरा नहीं ठगना बुरा है।

४९. अपनी करतूत से अरुचि हो जाये, बस यही करना है और कुछ नहीं ।

५०. दुःख उपस्थित होने पर भी ज्ञान से मेरे उपयोग की च्युति न होवे ।

५१. बड़प्पन मोह बढ़ाने में नहीं हैं । बड़प्पन तो मोह के कम होने नाश होने से है ।

५२. सुख तो ज्ञान और त्याग का फल हैं ।

५३. परमात्मा की उपासना करने का अर्थ है अपनी आत्मा की उपासना करना ।

५४. व्यवहार के साधन द्वारा व्यवहार से मुक्ति पाकर निश्चय में प्रवेश करूँ ।

उपर्युक्त श्रद्धा के बल पर ही मैं अपने द्वारा, अपने में, अपने लिये स्वयं सुखी होऊँगा ।

—मूलचन्द जैन